सारिका

कहानियों और कथा जगत की जीवंत पाक्षिकी

वर्ष : २५; अंक : [illegible] : मूल्य : ४ रुपये

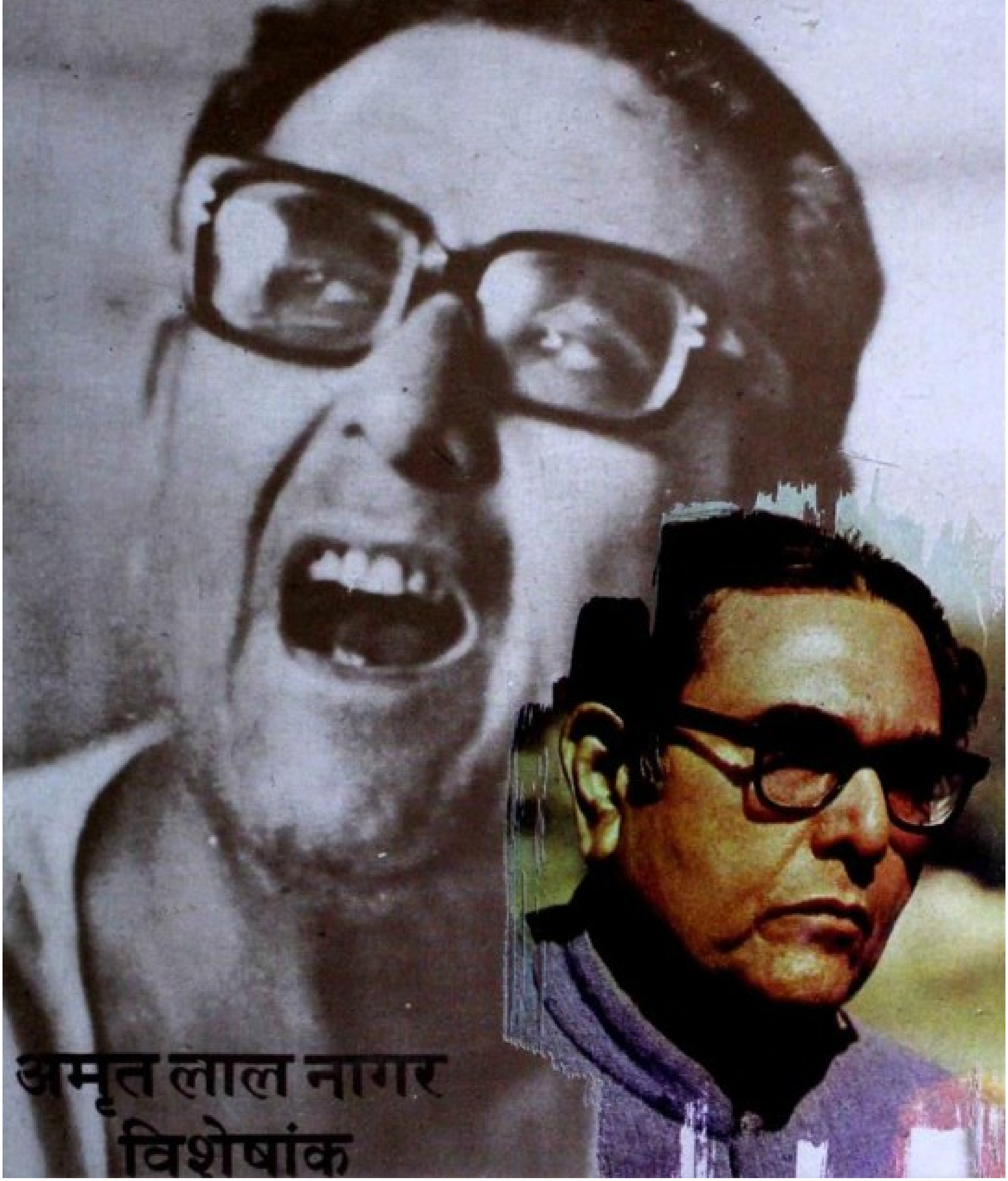

अमृत लाल नागर विशेषांक

अगला अंक

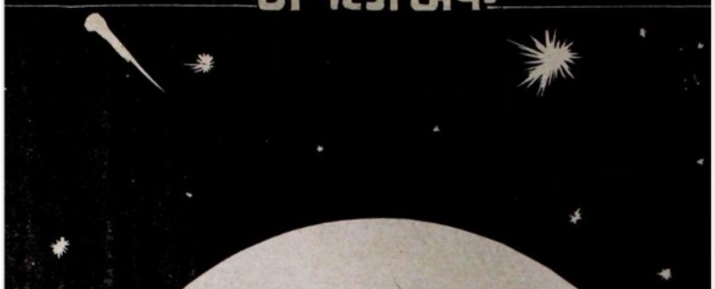

वह अद्‌भुत संसार कैसा होगा जिसका आविष्कार साहित्य ने तो कर लिया है मगर विज्ञान अभी करेगा !. . .

जैसे चांद, उड़नतश्तरियां, राकेट, जहाज आदि पहले कहानियों का विषय थे लेकिन आज विज्ञान की प्रामाणिक जानकारी! . . . सारिका : रजत जयंती वर्ष की सतरहवीं भेंट के तहत यह जानने के लिए कि सूई से लेकर सौरमंडल तक, कंप्यूटर से लेकर काम-वासना, नींद, अतीत, भविष्य, दफ्तर, विवाह, बच्चे, रसोई, .मकान, परिवहन, शिक्षा, ज्योतिष, तंत्र आदि की वैज्ञानिक अवधारणाएं साहित्य में अब किस रूप में व्यक्त हो रही हैं, पढ़िए

विज्ञान कथा अंक

▣ देश-विदेश के जाने-माने लेखकों की लगभग दो दर्जन कहानियां और लघुकथाएं जो बाकायदा हमारे भविष्य का एक प्रारूप प्रस्तुत कर देती हैं. इनके रचनाकार हैं—आर्थर क्लार्क, अरुण साधू, इसाक एसिमोव, फ्रेड्रिक ब्राउन, बोरिस गोर्बतोव, अल्फर्ड बैस्टर, हरबर्ट जार्ज वेल्स, रे ब्रेडबरी, वाल्ट शेल्डन, कैलाश शाह, मोहन 'संजीवन', कैरेल चैपेक, सुरेश ओयरे आदि.

▣ कंप्यूटर युग और साहित्य की परिणति? : सुधांशु गुप्त द्वारा आयोजित परिचर्चा में भाग ले रहे हैं—गंगाप्रसाद विमल, योगेश गुप्त, उदय प्रकाश, पंकज बिष्ट, हरदयाल, मृदुला गर्ग और ब्रजेश्वर मदान

1–15 सितंबर,.1985

पढ़िए ऐसी कहानियां जो प्रायः हिंदी में उपलब्ध नहीं होतीं

● अपनी प्रति का प्रबंध आज ही कर लें

सारिका

टाइम्स ऑफ इंडिया प्रकाशन

कहानियों और कथाजगत की जीवंत पाक्षिकी

वर्ष . 25; अंक : 387; 16–31 अगस्त, 1985

संपादक
अवधनारायण मुद्‌गल
उप-संपादक
रमेश बत्तरा
सुरेश उनियाल
बलराम
महेश दर्पण
वीरेंद्र जैन
सज्जा
सुमीता

अमृतलाल नागर विशेषांक

आवरण छाया : खुर्रम अमरोही

अमृतलाल नागर की कहानियां
12 शकीला की मां
20 ओढ़री सरकार
अमृतलाल नागर के व्यंग्य
32 नवाब साहब
34 जुलाब की गोली
37 नजीर मियां
60 शहर का अंदेशा
अमृतलाल नागर के उपन्यास
16 भूख
28 सुहाग के नूपुर
46 अमृत और विष
64 नाच्यौ बहुत गोपाल
अमृतलाल नागर के संस्मरण
40 आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे
53 गढ़ाकोला में पहली निराला जयंती
अमृतलाल नागर से साक्षात्कार
68 'अब उतना लिख चुका हूं कि आप रबर लेकर लेखन की दुनिया से मेरा नाम मिटा नहीं सकते.' : नागरजी से कन्हैयालाल नंदन की बातचीत
अमृतलाल नागर प्रियजनों की नजर में
9 उजास की धरोहर : धर्मवीर भारती
26 जीवन के स्वप्न की साधना : ज्ञानचंद जैन
31 बराबर अकेले पड़ते जाने की स्थिति : ठाकुरप्रसाद सिंह
36 मेरा कलाकार नागरजी का ही दिया हुआ है : विजय बोस
51 सदाबहार नागरजी : प्रभाकर माचवे, इंदुप्रकाश पांडे, बाला दुबे
57 पर्वत सब कुछ समझता है . . . : घनश्याम अस्थाना, अभिमन्यु अनत
63 वह धरती और समय पर अपने को लिख रहे हैं : नरेश मेहता
67 वे जितने दिन जियेंगे. . . . केशवचंद्र वर्मा
अन्य आकर्षण
15 आप किस उम्मीद पर जिंदा हैं?
19 चौक युनिवर्सिटी के वी. सी. . .
24 ओढ़री सरकार निश्चय ही एक सफल कहानी है : जैनेंद्र कुमार
39 साध अब पूरी हुई
45 प्रेमचंद का पत्र नागर के नाम
49 अपने पात्र कैसे चुनते हैं
55 आचार्य द्विवेदी का पत्र नागर के नाम
58 अमृतलाल नागर: व्यक्तित्व और कृतित्व
71 मेरी बा : आरती पंड्या
स्थायी स्तंभ
8 अपनी बात
72 पखवारे की पुस्तक
73 भरतमुनि के वंशधर

संपादकीय पता : सारिका, 10 दरियागंज, नयी दिल्ली-110002

अपनी बात

लेखन की निरंतरता का साक्ष्य

सारिका के साहित्यिक व्यक्तियों पर विशेषांक निकालने की समृद्ध परंपरा रही है. उसी परंपरा को हमारा यह अमृतलाल नागर विशेषांक आगे बढ़ा रहा है. इस विशेषांक को हम पुरानी परंपरा से हटकर एक नयी परंपरा की शुरुआत भी कह सकते हैं क्योंकि अभी तक जितने भी ऐसे विशेषांक निकले वे दिवंगत रचनाकारों से संबद्ध थे. किसी भी जीवित वयोवृद्ध तथा संघर्षशील रचनाकार पर यह सारिका का पहला विशेषांक है. हम इस परंपरा को बनाये रखना चाहते हैं. अभी हमारे बीच अज्ञेयजी और जैनेंद्रजी जैसे महत्वपूर्ण वरिष्ठ कथाकार मौजूद हैं. हम अगले वर्ष इन पर विशेषांक की योजना बना रहे हैं.

कुछ लोग यह पूछ सकते हैं कि हमने सबसे पहले नागरजी पर ही विशेषांक की योजना क्यों बनाई. इसका एक मात्र कारण यही है कि नागरजी का कथालेखन निर्बाध रूप से लगातार चल रहा है. जबकि अन्य लेखकों के लेखन की निरंतरता भंग होती रही है, उसमें लंबा अंतराल आता रहा है. हमने क्रम के रूप में लेखन की निरंतरता को ही आधार माना है. उसके बाद आयु को वरीयता दी है. ऐसा सिर्फ अपनी सुविधा के लिए किया है अन्य किसी कारण से नहीं. नागरजी 1935 से लगातार लिख रहे हैं. पिछले 10-15 वर्षों में उनके लेखन की गति तीव्र ही हुई है और रुकी तो बिल्कुल नहीं.

कविता को छोड़कर साहित्य की ऐसी कोई विधा नहीं जो नागरजी से अनछुई रही हो. व्यंग्य, कहानी, उपन्यास, नाटक, रूपक, संस्मरण, यात्रावृत्त, साक्षात्कार आदि सभी में उनका महत्वपूर्ण योगदान है. नागरजी ने दो ही शब्दों में अपने आपको विभाजित किया है. एक है 'व्यस्त' और दूसरा 'मस्त'. लेखन ने उन्हें व्यस्त रखा है और भंग भवानी ने मस्त. ये दोनों ही स्थितियां उनका विशिष्ट व्यक्तित्व हैं और यही दोनों इनकी खास जिंदगी. इनमें किसी भी तरह का अनावश्यक हस्तक्षेप उन्हें सह्य नहीं है. आदरणीया बा (स्व: श्रीमती प्रतिमा नागर) एक सजग और सतर्क चौकीदार की तरह हर व्यवधान पर नजर रखती थीं. बा के बगैर बाबूजी (श्री अमृतलाल नागर) की कल्पना ही मुश्किल थी.

28 मई, 1985 को हर व्यवधान पर 'बा' की चौकसी समाप्त हो गयी. बा के आकस्मिक निधन ने नागरजी, नागर परिवार और उस विशाल हवेली को ही नहीं हम सब आत्मीय जनों को भी एक उदास सूनेपन से भर दिया है. मैं सारिका का यह विशेषांक आदरणीया बा की स्मृति को एक हार्दिक श्रद्धांजलि के रूप में समर्पित कर रहा हूं.

अ. मा. [signature]

उजास की धरोहर

नागरजी के साथ श्रीमती प्रतिमा नागर

डॉ. धर्मवीर भारती हिंदी के मूर्धन्य साहित्यकार और धर्मयुग के यशस्वी संपादक हैं. भारतीजी के नागरजी तथा उनके परिवार के साथ काफी पुराने और आत्मीय संबंध हैं. श्रीमती नागर को भारतीजी भाभी मानते रहे हैं. भारतीय समाज में भाभी के संबंध बहुत ही गरिमापूर्ण और मधुर होते हैं. श्रीमती नागर थीं भी गरिमा और माधुर्य से भरपूर. ऐसी भाभी के आकस्मिक निधन पर एक देवर से जैसे शब्दों की अपेक्षा की जाती है, वैसे ही श्रद्धाजल में डूबे शब्द सुमन भारतीजी उन्हें अर्पित कर रहे हैं.

भाभी चली गयीं. इस साल उन्हें अपनी सालगिरह बिना भाभी के कैसी सूनी-सूनी तो लगेगी. पहले तो बधाई की मेरी हिम्मत नहीं होगी, अगर दी भी तो बधाई उस सूने आंगन में भटककर लौट आयेगी. भाभी के बिना उस पुरानी हवेली का वह विशाल आंगन कितना वीरान, कितना अंधेरा होगा.

भाभी की मिसाल किससे दूं! कभी आपने जंगल की सुनसान रात के बाद पौ फटने की उजास देखी है. कितनी दबी-दबी, मगर किस कदर आश्वासन देती हुई. वैसी ही थीं भाभी.

और इस उजास से पहले पहल मेरी भेंट हुई थी एक पुरानी चाल के मकान की सीढ़ियों के नीम अंधेरे में. वह भी मजेदार घटना है.

मैं इलाहाबाद में था उस समय, शायद शोधछात्र. एक दो किताबें छप चुकी थीं. लेखक होने का ठप्पा लग चुका था. गया था लखनऊ किसी काम से. साथ थे केशव यानी केशवचंद्र वर्मा. हजरतगंज में घूमते-घूमते तय हुआ कि क्यों न अमृतलाल नागरजी के घर चला जाये. शाम ढलने लगी थी. चौक पहुंचे. कई गलियों की खाक छानी. सब उन्हें जानते थे, खोमचेवाले, हलवाई, फूलवाले, पानजर्दावाले. सभी ने इतने उत्साह से रास्ता बताया कि हम गुमराह होते-होते बचे. पहुंचे. एक पुराने ढर्रे का मकान (वह नहीं, जहां अब रहते हैं). वे रहते थे तब ऊपर वाली मंजिल में, बाहर से ही जीना था.

सीढ़ियां चढ़ते दिल धड़क रहा था. क्या बतायेंगे कि क्यों आये हैं? क्या बातें करेंगे? नागरजी बातें करेंगे भी या नहीं? अगर कहीं न मिले तो?

जीने पर खड़ी सीढ़ियां थीं और गली के मकान के बंद जीने जैसी सीलन और अंधेरा. ऊपर दरवाजा बंद था. घंटी-वंटी का रिवाज तो तब था नहीं. पहुंचकर कुंडी खड़कायी. क्षण भर बाद दरवाजा खुला और भाभी की पहली झलक मिली. लंबी, तन्वंगी, बादामी रंग की साड़ी और अजब-सा उजास फैलाता हुआ रंग.

"कहिए." उन्होंने थोड़ी रुखाई से पूछा.

"नागरजी हैं क्या?"

"नहीं," वे बोलीं, बड़ी गंभीरता से, "वो तो कानपुर गये हैं!"

हम दोनों हतप्रभ! इतनी हिम्मत करके आये भी और नागरजी हैं ही नहीं. अब क्या करें हम लोग?

वे प्रतीक्षा में खड़ी रहीं कि हम लोग या तो जायें या कुछ कहें. मैंने हिम्मत करके कहा, "नमस्कार! नागरजी कानपुर से आयें तो कह दीजियेगा, इलाहाबाद से भारती और केशव आये थे?"

"भारती और केशव..." उन्होंने जैसे याद करने के लिए दोहराया... और सहसा घर के अंदर से जोर से आवाज आयी...
"अरे चले आओ भइया भारती, केशव आ जाओ, आ जाओ... मैं यहीं हूं!" नागरजी अंदर से पुकार रहे थे.

दरवाजा पूरा खुल गया. भाभी कुछ खीज कर झटके से अंदर चली गयीं.

हम दोनों चमत्कृत, अंदर गये, दूर पर दीवार के सहारे एक ऊंचे से तख्त पर नागरजी बैठे थे. हाथ में तख्ती थी, जिस पर कागज लगे थे, देखकर हंसे जोर से...

"भइया, ऐसा है कि यही तख्त जो है न, हमारा कानपुर है. जब लिखते-पढ़ते हैं यहां बैठकर तो तुम्हारी भाभी से कह देते हैं कि आने-जाने वालों से कह देना, कानपुर गये हैं. आओ भारती, केशव भी यहीं आ जाओ, कानपुर में!"

हम दोनों चौक लखनऊ के उस कानपुर में बैठने की जगह बना ही रहे थे कि भाभी दो गिलास पानी लेकर आयीं. बिना किसी को संबोधित किये बुदबुदा रही थीं, "बाहरवालों के सामने हमारी हंसी उड़ती है, खुद ही तो ...."

"अरे, ये बाहरवाले कहां है," नागरजी कुछ मनुहार के से स्वर में बोले...... "और तुमने झूठ क्या कहा..... यह कानपुर तो है ही!"

"रहने दो." भाभी की आवाज में मनुहार के प्रभाव से थोड़ी खनक आ गयी थी... "हरदम नाच नचाते रहते हैं!"

"अरे खाली पानी?" नागरजी ने टोका.

"आ रहा है, आप ये कुरसी ले लीजिए..." भाभी ने टीन की कुरसी मेरी और बढ़ायी और चली गयीं. हम लोग बातों में मशगूल हो गये. **सेठ बांकेमल** (नागरजी की प्रख्यात कृति) का जिक्र आया और लो लखनऊ के उस कानपुर में आगरा प्रकट हो गया और किनारी बाजार की रौनक छाने लगी. थोड़ी देर में लखनऊ फिर लौटा, जब भाभी दो तश्तरियों में चौक लखनऊ की मिठाइयां रखकर लायीं—हरे चने की बर्फी, पिस्ते का लड्डू, लाल पेड़े और मलाई की गिलौरियां. फिर नागरजी की ओर देखा और हंस पड़ीं. पल्ले से मुंह ढंककर हंसी दबायी और चली गयीं. फिर नहीं आयीं.

हम लोग लौटे तो हमारे साथ थी नागरजी की निश्छल हंसी, लच्छेदार बातें, लाल पेड़ों का सोंधा-सोंधा स्वाद, और भाभी के व्यक्तित्व की दीप्त उजास—जैसे धुंधलके में नाक की लौंग का हीरा छवि मारता है न, कुछ-कुछ वैसा.

उसके बाद बरस-पर बरस बीतते गये, नागरजी के दर्शन होते रहे, कभी इलाहाबाद में गजदर के लान पर, कभी वाचस्पति पाठक की बैठक में, कभी रुद्रनारायण शुक्ल के साथ कॉफीहाउस में, कभी रेडियो-स्टेशन पर. धीरे-धीरे हम लोग उनके मुरीद होते गये. लखनऊ से उनके और भगवती बाबू के आने का व्यग्रता से इंतजार करते रहते थे हम लोग. कितना सुकून, कितना उत्साह मिलता था जब वे आते, हमारे बीच बैठते, गपशप करते, शाबाशी देते या कुछ बातों पर डांटते. भगवती बाबू काफी छानबीन कर स्नेह देते थे. मसलन परिमल ग्रुप में वे मुझे और रमानाथ अवस्थी को काफी प्यार करने लगे थे. विजयदेव नारायण साही और गंगाप्रसाद पांडेय से कुछ अप्रसन्न ही रहते..... लेकिन नागरजी का स्नेह मुक्त था. उदार भाव से सबके लिए. क्या गजब की शख्सियत पायी है उन्होंने कि एक ओर परिमलवाले उनके दीवाने थे, दूसरी ओर प्रगतिशील लेखक संघ का काम भी उनके बिना नहीं चल पाता था. उस वक्त परिमल और प्रगतिशील लेखक संघ में काफी संगीन महाभारत छिड़ा हुआ था विचार-स्वातंत्र्य और पार्टी प्रतिबद्धता को लेकर.

नागरजी इस संग्राम के बीच अपने ठहाकों के ब्रह्मास्त्र दोनों ओर छोड़ते रहते थे, दोनों की ओर से. विचार-स्वातंत्र्य तो उन्हें खुद ही हासिल हो गया था, रही प्रतिबद्धता की बात तो यहां भी वे पक्के थे. उनकी प्रतिबद्धता थी मानव मन के सहज प्यार से. हां, एक चीज और थी, उनकी प्रतिबद्धता खूब गहरी थी, शाम को विजया भवानी की एक बड़ी-सी गोली से. वह तो चाहिए ही चाहिए. अब यूं समझिए कि प्रेम का रंग तो हुआ लाल, भांग का रंग हुआ हरा और खुद पहनते थे हमेशा सफेद कुर्ता-धोती. हुआ न तिरंगा व्यक्तित्व, बिलकुल बनारस की मशहूर तिरंगी बर्फी जैसा... और यकीन मानिए, उतना ही स्वादिष्ट, उतना ही मीठा.

भगवती बाबू और नागरजी धीरे-धीरे मेरे जीवन में कितने गहरे उतरते गये, इसका आभास खुद मुझे भी पूरी तरह नहीं हुआ, जब तक मेरे जीवन का एक भयानक, अंधकार भरा आपातकाल नहीं आया. अपने प्यारे इलाहाबाद से उखड़ा, जिंदगी भर की गहरी दोस्तियों में अवांछित दरारें पड़ीं, बंबई में बिलकुल अकेला शुरू-शुरू के दिनों में, 'धर्मयुग' के रूप में परिवर्तन और संस्कार-परिवर्तन के काम का गहरा बोझ और एक गहरी निराशा. उन दिनों मुझे और पुष्पा को नागरजी और भगवती बाबू का जो गहरा प्यार और संरक्षण मिला, उससे क्या कभी हम लोग उऋण हो पायेंगे. भगवती बाबू बंबई आये, स्वयं अपने निकटतम संबंधियों को छोड़कर हम दोनों के पास टिके, लगभग महीने भर रहे और घर के बड़े बुजुर्ग की तरह हमारी हर समस्या का दायित्व अपने मत्थे लिया और तमाम असत्यों और पाखंडों से लड़ने की एक नयी ताकत दे गये. नागरजी आये, शिवाजी पार्क के पास अपने भाई के घर टिके, लेकिन सुबह टहलने के लिए निकलते, आठ-नौ बजे हमारे घर पहुंचते, छड़ी लिये धीरे-धीरे सीढ़ियां चढ़ते, चाय पीते, नाश्ता करते और अपनी मनमोहनी बातों से हमारे सारे दुख-दर्द पर ठंडक बरसाते और बीच-बीच में घर परिवार के बारे में पुष्पा को तमाम हिदायतें, जैसे अपनी बेटी को गहरे संस्कार दे रहे हों. कैसा सुखद बन गया था वह दुखद दौर. हमें बिना बताये नागरजी और भगवती बाबू ने हम लोगों के लिए कितना कुछ किया था, यह तो धीरे-धीरे बरसों बाद पता लगा.

हां, भाभी की तो बात ही रह गयी. बंबई से लखनऊ जाना बहुत कम हो गया था. एक बार गया तो पता चला, नागरजी कलकत्ते गये हुए हैं. फिर तय हुई शादी मेरे अंतरंग मित्र गिरधारीलाल वैद की बड़ी लड़की की, कुंवरनारायण के परिवार में. बारात में शामिल हुए हम तीन दोस्त—मैं, कमलेश्वर और राज बेदी. मजा आयेगा. बारात का माहौल और लखनऊ में नागरजी की छाया. पहुंचते ही हम लोगों की हरकतें शुरू हो गयीं. गिरधर को कुंभकर्णी निद्रा से जगाया और गालियां खायीं, ठाकुरप्रसाद सिंह का नाटकीय भाषण सुना, श्रीलाल शुक्ल की कुर्सी का मुआयना किया और फिर नागरजी के पास चल दिये. कमलेश्वर हस्बमामूल बीच में ही से कहां, कब, कैसे गायब हो गये, पता नहीं चला. रह गये—मैं और राज बेदी.

उनके वर्तमान घर का फाटक और आंगन लांघकर पहुंचे बरामदे के पीछे उनके कमरे में, जहां किताबों, पुरातात्विक मूर्तियों, पुराने चित्रों के बीच गद्दे पर बैठे नागरजी खिल उठे. फिर जो बातें शुरू हुईं कि न उनका आर न पार. इमामबाड़े की रवायतें, पास के लक्ष्मण टीले का इतिहास (लखनऊ लक्ष्मणजी ने बसाया था) नीमसार-मिसरिख की कथाएं और उनके उस समय प्रकाशित नये उपन्यास '**अब मैं नाच्यो बहुत गोपाल**' की सामग्री मेहतरों के बीच जाकर उन्होंने कैसे जुटायी—इसका रोमांचक विवरण. राज बेदी (अब नहीं रहे) आदर्श श्रोता थे. खोदकर पूछते गये और नागरजी के पास तो कुबेर का खजाना...

मैं इस चर्चा के बीच से उठकर जाने किस काम से बाहर आंगन में आया तो देखा, भाभी तश्तरियों में नाश्ता लगा रही थीं. पता नहीं, उम्र के साथ मैं बदल गया था या भाभी बदल गयी थीं... या हम अवधवासियों में सीता जी और लक्ष्मणजी के समय से ही भाभी को मां मानने का संस्कार है... कि उस दिन भाभी एक भरे-पूरे घर की गृहस्वामिनी कुलमाता जैसी लगीं. माथे पर बड़ा-सा लाल टीका... उसी मातृत्वभरे अधिकार से उन्होंने सहसा मुझसे पूछा, "देवरानी को क्यों नहीं लाये? बरात में अकेले आये हैं? क्यों?" मैं उनसे बताता रहा कि तीनों बच्चों के स्कूल चल रहे हैं... पर वे इस तर्क को मानने को राजी नहीं थीं.

मैं तब तक नागरजी के अलावा केवल मदन लाल नागरजी से परिचित था, उनके चित्रों के संदर्भ में, बच्चों में से किसी से कभी परिचय ही नहीं हुआ था, पर भाभी की भाव भंगिमा, बातचीत का लहजा ऐसा था जैसे सारे घर पर एकछत्र शासन करती हों... नागरजी की सारी देखभाल के अलावा उनका एक अलग व्यक्तित्व है... नितांत घरेलू होते हुए भी अत्यंत तेजोमय. एक तेवर ही अलग था उनका!

उसका शायद एक और रहस्य था और वह रहस्य मुझे मालूम हुआ बरसों बाद, लखनऊ से हजार मील दूर गुजरात के सूरत नगर की एक जनसंकुल रौनकदार गली में. सूरत में मैं और पुष्पा घूम रहे थे और हमारे साथ थे बड़ौदा के दो युवा गुजराती समीक्षक प्राध्यापक. दोनों बड़े मस्त और प्रेमी जीव. वे हम दोनों को गुजरात के नागर ब्राह्मणों का इतिहास बता रहे थे. कैसे वे सबसे सुसंस्कृत, राज्यैश्वर्य वाले, विद्वान, सभाकुशल और आभिजात्य होते हैं. और फिर बात चली नागरानी (यानी नागर कन्याओं) पर. उनका कहना था कि उनका सौंदर्य, उनके संस्कार, उनके तेवर सबसे अलग ही होते हैं. जब वे नागर कन्याओं के रूप और तेवर का बखान कर रहे थे, मुझे बार-बार भाभी की याद आ रही थी यानी उसका तेवर कुलीन तेवर था, हजारों वर्षों की नागर परंपरा का संचित वैभव. भाभी की याद आने का एक कारण और था. मैं अपने जीवन का स्वर्णिम अवसर उन्हीं दिनों चूक गया था. भाभी के विवाह में नागरजी का सहबाला बनने का.

मतलब ? आप पूछेंगे कि जब नागरजी का विवाह हुआ होगा, तब तो मैं कहीं अतरसुइया की गली में खेलता बच्चा रहा होऊंगा या शायद पैदा ही न हुआ होऊं तब तक! फिर विवाह में सहबाला बनने का क्या मतलब!

मतलब है जनाब! मैं बताता हूं. उस बार जब लखनऊ गया तो काफी सैलानी मूड में था. श्रीलाल के घर पहुंचकर केशवचंद्र वर्मा को इलाहाबाद में फोन करके बुलाया. फिर हम, श्रीलाल, केशव, गिरधर गोपाल सभी एक गाड़ी लेकर चले... नीमसार मिसरिख. नागरजी हमारे नेता थे. '**एकदा नैमिषारण्ये**' की कथा-भूमि थी यही नीमसार (नैमिषारण्य) और इरादा था कि उस उपन्यास की कथाभूमि में विचरण किया जाये नागरजी के साथ. उनसे एक-एक स्थल का पूरा ऐतिहासिक पौराणिक संदर्भ समझते हुए. वह स्थल देखा, जहां अस्सी हजार ऋषियों का विराट सम्मेलन हुआ था. संहिताएं बनी थीं, स्मृतियों का पुनर्गठन हुआ था, वह स्थल देखा, जहां से सृष्टि का प्रारंभ होना बताया जाता है, गोमती का वह ऊंचा कगार देखा, जिसके विवरण से नागरजी का उपन्यास शुरू होता है... और छड़ी टेक कर धीरे-धीरे चलते हुए, कथाएं कहते हुए नागरजी, बीच-बीच में ठहाके लगाते हुए नागरजी, बरगद और पीपल के पास रुक-रुक यादों में खो जाते हुए नागरजी. जीवन के बड़े खूबसूरत दिनों में से एक दिन वह भी था.

नागरजी के साथ श्रीमती प्रतिभा नागर

मिसरिख तक पहुंचते-पहुंचते भूख लग आयी थी. स्वामी नारदानंद तो थे नहीं, उनके आश्रम में कोई यात्रियों के लिए विशेष आर्डर पर पूड़ियां बनाता है. देहात से मटकी का दही आया, पूड़ियां बनीं, आलू की सब्जी छौंकी गयी. हम लोग खाने बैठे. जाने कैसे घर की बात चल आयी तो नागरजी ने बताया कि दो वर्ष बाद ही उनके विवाह को 50 साल पूरे हो जायेंगे.

मुझे यह बात याद रही. संयोग से कुछ ही दिन बाद लखनऊ जाना हुआ. जाड़े की दोपहर थी. भाभी खाना खाकर एक बीड़ा मुंह में दबाये निकल रही थीं, तभी मैंने नागरजी से प्रस्ताव रखा, स्वर्ण जयंती पर एक बार फिर भाभी से ब्याह रचाएं नागरजी. भाभी तो मुस्कराकर और कुछ कुछ झल्लाकर चली गयीं, पर नागरजी को प्रस्ताव भा गया. मैंने तुरंत अपना दावा पेश किया, "इस विवाह में सहबाला कोई और नहीं बनेगा, सहबाला (वर का छोटा भाई) बनने का हक केवल मेरा होगा." नागरजी ने ठहाका लगाया, "मंजूर! फिर हो जाये!" "हो जाये!" मैंने कहा, "मैं सब काम छोड़कर आऊंगा!"

उनके आंगन में एक लतर है. ऊपर झरोखे तक चढ़ी है. जब मैं चलने लगा तो, अब तक याद है... भाभी लोटे का बचा पानी लतर के थाले में डाल रही थीं. मैंने कहा, "सहबाला बनने आ रहा हूं भाभी!" उनके मुंह में पान था. कुछ बोलीं नहीं, पर गर्दन झटकाकर जो मुद्रा बनायी, उसका अर्थ था, "ठीक है लाला, देखूंगी, आना तुम!" अगली बार अचला आयी तो भाभी ने अपनी देवरानी (पुष्पा) के लिए एक अंगूरी रंग की बेहद खूबसूरत चिकन की साड़ी और मेरे लिए चिकन का कुर्ता भिजवाया था, और अचला ने बताया कि उन्होंने घर भर को बता रखा है, भारती बंबई से सहबाला बनकर आयेंगे.

दुर्भाग्य कि जब वह दिन आया, उन दिनों याद नहीं कि कौन-सी परिस्थितियां आ गयीं कि मैं छुट्टी नहीं ले पाया, पर हम और पुष्पा कालबा देवी जाकर सुहाग पिटारी की सारी चीजें खरीद कर लाये, आलता, बिंदी, सिंदूर, टीका, बिछिया, मुंदरी, आरसी और उसके साथ (वे जाड़े के दिन थे) काठियावाड़ का एक कलात्मक ऊनी शाल. सब अचला के हाथ भाभी को भेजा, नागरजी को एक लंबा पत्र.

न जाने का बेहद दुख रहा. लखनऊ से जब उस समारोह का छपा हुआ आमंत्रण आया तो दुख और भी दूना हो गया. फिर बेहद आतुरता यह जानने की कि इस स्वर्ण जयंती विवाह में क्या-क्या हुआ?

अचला लौटकर आयी... सारा आंखों देखा हाल बताया, फिर हम लोगों ने पूछा, "भाभी को शाल पसंद आया!" "पसंद आया? वो तो समारोह में वही ओढ़कर बैठी रहीं और बाद में भी वही ओढ़े इतराती घूमती रहीं. सबको बार-बार बताती थीं... मेरे देवर-देवरानी ने बंबई से भेजा है." अचला ने बताया.

मन भर आया सुनकर! छोटी-सी चीज को इतना बड़ा मान तो मां ही दे सकती है. हम अवधवासियों ने बड़ी भाभी को मां ठीक ही माना है!

इस साल, अभी कुछ महीनों पहले, अकस्मात भाभी चली गयीं. हफ्तों तक तो यह खबर मिली ही नहीं. जब मिली तो स्तब्ध रह गया. कितनी बार नागरजी को खत लिखने बैठा तो समझ में ही न आये कि लिखूं तो क्या लिखूं. कितने अकेले पड़ गये होंगे वे. कितना सूनसान होगा वह धूपभरा लतर सजा आंगन, लगता होगा रसोई से अब वे निकलीं, अब धूप में उनका लाल टीका चमका. वह रौनक अफरोज हवेली कैसी उदास, श्रीहीन होगी...

पर फिर नागरजी को जन्मदिन की बधाई हिम्मत कर भेज ही रहा हूं. आखिर हमारी उस उजासभरी भाभी की धरोहर है उनकी कलम. वह चलती रहेगी तो हमारी भाभी के माथे का टीका जगमगाता रहेगा, आंगन की लतर हरी-भरी रहेगी, वह लतर जिसके पास भाभी को आखिरी बार देखा था! □

अमृतलाल नागर की कहानियां : एक

शकीला की मां

किसी भी लेखक के लिए अपनी प्रारंभिक रचनाओं में से किसी एक प्रतिनिधि रचना को छांटना बहुत मुश्किल काम है. नागरजी ने 'शकीला की मां' को ही अपने लेखन के पहले पड़ाव की प्रतिनिधि रचना क्यों माना है? क्या सिर्फ इसलिए कि यह शरत् बाबू और प्रेमचंद के यथार्थ से जुड़ी है, कि इसमें स्व. पं. रूपनारायण पांडेय की बोलचाली भाषा है, कि इसे निराला ने पसंद किया था या कुछ और भी है? प्रस्तुत है नागरजी के लेखकीय विकास की पहली मंजिल की महत्वपूर्ण सीढ़ी—

केले और अमरूद के तीन-चार पेड़ों से घिरा आंगन. नवाबी युग की याद में मर्सिया पढ़ती हुई तीन-चार कोठरियां. एक में जमीलन, दूसरी में जमलिया, तीसरी में शकीला, शहजादी, मुहम्मदी. यह 'उजड़े पर वालों' के ठहरने की सराय थी.

एक दिन जमीलन की लड़की शकीला दो घंटे में अपनी मौसी के यहां से लौट आने की बात कह किसी के साथ कहीं चल दी. इस पर घर में चख-चख और तोबा-तिल्ला मचा, उसे देखने में लोगों को बड़ा मजा आया. दिन-भर बाजार के मनचले दूकानदारों की जबान पर शकीला की ही चर्चा रही और तीसरे दिन सबेरे, आश्चर्य-सी वह लौट भी आयी. लोगों ने देखा—कानों में लाल हरे नग-जड़े सोने के झुमके, 'धनुशवानी' रंग की चुनरी, गोटा-टंका रेशमी कुरता और लहंगा.

घर की चौखट पर पैर रखते ही पहले-पहल मुहम्मदी ने थोड़ा मुस्कराकर उसकी ठोढ़ी को अपनी उंगलियों की चुटकी से दबाते हुए पूछा.

"ओ-हो-री शको बीबी, दो दिन कहां रहीं?"

शकीला केवल मुस्कराकर आगे बढ़ गयी.

सब्बन मियां की दाढ़ी में कितने बाल हैं अथवा उनकी नुमायशी तोंद का वजन कितना है, यह तो आपको शहजादी ही बता सकेगी. हां, उनका सिन इस समय पचास-पचपन के करीब होगा, यह आसानी से जाना जा सकता है. एक दिन जब आप खुदा के नूर में खिजाब लगाकर शकीला से हंस-हंसकर कुछ फरमा रहे थे, तब शहजादी ने उनके जवान-दिल पर कितनी बार थूका था, मुहम्मदी उसकी गवाह है.

चारपाई पर बैठे-बैठे पंखा झलते हुए मियां सब्बन ने शकीला को देखा. दाढ़ी-मूंछों के काले-सफेद बालों में एक बार बिजली-सी चमकी. फिर कहा, "आह-हाय, यह गजब, यह ठाट! कहां चली गयी थी तुम?"

चुनरी से सिर को अच्छी तरह ढककर कनखियों से देखते हुए शकीला ने कहा, "कानपुर."

शहजादी ने जैसे ही कोठरी के बाहर आकर देखा, शकीला मुंह बिचकाकर दोनों हाथों को सहज ढील पर छोड़ते हुए बोली, "ऊंहूं, अब तो बेगम साहिबा के कदम क्यों जमीन पर पड़ेंगे? हां भई, यार लोग सलामत रहें, चलो अच्छा है. . . लेकिन कहे देती हूं, मेरे घर यह छिनाला नहीं चलेगा; हां."

शकीला पर जैसे गाज गिर गयी. पत्थर की मूर्ति की तरह, जैसे खड़ी हुई थी, वैसे ही रह गयी.

शहजादी का अंग-अंग, उस समय फड़क-फड़ककर एक अजीब दृश्य उपस्थित कर रहा था—हाथ कभी इधर, कभी उधर, आंखें कभी पृथ्वी और कभी आकाश की ओर. चालीस से कुछ ऊपर का सिन. घर की चहारदीवारी के अंदर सिर पर दुपट्टा डाल लेने की कोई जरूरत थी ही नहीं. फिर सब्बन मियां को लुभाना भी न था—शायद इसीलिए वह 'बाडी' नहीं पहनती और मैले कुरते के सब बटन भी खुले ही रहते हैं.

पान के कत्थे से रंगीले ओठ रसीले हैं या नहीं, इसे सब्बन मियां बता तो सकते थे, परंतु वे आज तक किसी भी अंग्रेजी पढ़े-लिखे आदमी के पास बैठे तक नहीं. फिर भी, उन रसीले ओठों से बात करते समय हमेशा 'पराग' बिखरता है. इसे तो बहुत लोग जानते हैं. शहजादी कह रही थी,

"ऐ, कभी हमारे भी जवानी के दिन थे. हमने भी जमाना देखा है, लेकिन यह सिन और यह सितम—ऐसी जवानी पर खुदा की मार."

अपनी कोठरी के सामनेवाले दालान में चारपाई पर बैठी हुई जमीलन रोटी खा रही थी. शहजादी के बयान से उसे शकीला के आने की सूचना मिल चुकी थी, फिर भी वह उठी नहीं, चुपचाप सुनती ही रही.

और शहजादी बिना रुके ही कहे जा रही थी, "मुई के मिजाज तो देखो, ऊं-हूं, यह ठसका! जैसे हजार-दो हजार कमा लायी हो. अल्लाह ने जरा सूरत दी तो जमीन पर पैर ही न पड़ते. उफ री नजाकत!" मुंह बिचकाकर, गाल पर उंगली रख, आंखें चढ़ाते हुए उसने इस अंदाज से गर्दन मटकायी कि . . . खुदा की पनाह.

सहनशीलता की भी एक हद होती है. यह ठीक है कि शकीला के भाग जाने पर जमीलन ने 'परवरदिगार' से उसकी मौत मांगी थी, लेकिन आज, अपनी आंखों के सामने अपनी लड़की के लिए इतनी तीखी बातें सुनने को वह हरगिज तैयार न थी. मुंह का कौर जो बहुत देर से दांतों का अत्याचार सहन कर रहा था, आधे लोटे पानी के सहारे पेट में पहुंच गया.

जमीलन ने दालान से बाहर आकर उसको आवाज दी, "शकीला, चल, इधर आ."

किसी स्वप्न को देखते-देखते शकीला जैसे चौंक-सी उठी. मां की आवाज सुनकर उसने अपने को संभाला और फिर अपनी कोठरी में चली गयी.

आग दोनों तरफ बराबर सुलग रही थी. शहजादी अभी कुछ और कहना चाहती थी, और जमीलन का दिल भी अंदर ही अंदर घुमड़ रहा था. आखिर जमीलन से न रहा गया. अपने आप ही किसी को सुनाकर कहने लगी, "जिंदगी भर दुअन्नी-चवन्नी पर कलमा पढ़ा की, अब किसी की बढ़ती देखकर आंखें फटती हैं? वाह रे जमाना बुरा हो तेरा."

"ऐ, तो जमाने को क्या कोसती हो? मुझे कोसो, मुझे, है हिम्मत?" शहजादी फट पड़ी.

"मैं क्यों किसी को कोसूं—मुझे क्या गरज? तुम्हें क्यों चिनगी लगती है?"

"है-है, लगे नहीं. लेके कोस डाला—बुरा हो, बुरा हो—वाह."

"और मेरी आंखों के सामने घंटा भर जो तुम मेरी लड़की को कोस रही थीं, वह कुछ नहीं. . . दिन-भर बहन-बहन कहो, वह मौसी-मौसी रटे, और मौसी मुई जब देखो, तब कोसाकाटी; ऐसी मौसी के मुंह में आग. बड़ी मौसी. . ."

जमीलन की बात अभी पूरी न हो पायी थी कि शहजादी लपककर उसके पास जा खड़ी हुई, "ले रख आग, रख ना? मुई छिनाल, रंडी, बदजात. . ."

शहजादी हांफ रही थी.

"और तुम कौन हो? दूसरे को तो रंडी, छिनाल, बदजात और आप बिचारी बड़ी पाक साफ हैं न? वह दिन भूल गयी बीबी, जब कंपनीबाग में अपने चहेते के साथ पकड़ी गयी थीं? रह तो आयी हो तीन दिन तक हवालात में. मुई दो कौड़ी के सिपाहियों ने दुर्गत कर तो दी थी. . . नहीं, अब वह भूल गयी. अपनी बाली कैसे कहे?"

"हां-हां, मेरे तो दो कौड़ी सिपाही थे, तेरे यार तो बड़े लाट के बच्चे थे?"

"थे ही, और ले ही गये मेरे जरा से इशारे पर तुझे छुड़ाकर, वरना मर जाती जिंदगी भर जेल में चक्की पीसते-पीसते."

"ऐ, कौन किसका खून किया था, डाका डाला था, जो जिंदगी-भर जेल में पड़ी रहती? बड़ी आयी है छुड़ानेवाली, कुत्ती कहीं की?"

जमीलन के तन में आग लग गयी. लपककर शहजादी की गर्दन नापी. सब लोग बचाने के लिए 'हैं-हैं' करते हुए दौड़ पड़े. जमीलन उसका गला छोड़कर अपने दालान में चली आयी.

दोनों हाथों को बार-बार ऊपर की ओर उठाकर चिल्ला-चिल्लाकर शहजादी कहने लगी, "अल्लाह करे, आधी रात में इसकी लाश मचमचाती हुई निकले. अल्लाह करे, इसके तन-तन में कीड़े पड़ें, अल्लाह करे. . ."

और फिर अपनी असमर्थता को पछाड़ने के अंतिम प्रयत्न में वह ढह गयी.

मियां सब्बन ने लपककर चारपाई से पंखा उठाया और उसके सिर को अपनी गोद में रखकर पंखा झलने लगे.

जमीलन खाना खाने बैठी, पर उससे ठीक तरह से खाया नहीं गया. थाली एक ओर सरकाकर गडुए से हाथ-धोते-धोते उसने आवाज दी, "शकीला."

शकीला अपनी कोठरी से निकलकर चुपचाप उसके पास खड़ी हो गयी. जमीलन के पानदान को अपनी ओर खिसकाकर उसका ढक्कन खोलते हुए पूछा, "गयी कहां थी?"

"कानपुर. . ." चारपाई के एक कोने का सहारा लेकर पायताने की डोरी पर हाथ फेरते हुए सिर झुकाये उसने उत्तर दिया.

"किसके साथ गयी थी?"

"मुन्ना के साथ."

"कौन मुन्ना?"

"रामलाल का लड़का."

"रामलाल कौन? सराफेवाले?"

इस बार मां की आंखों से आंखें मिलाकर शकीला ने उत्तर

दिया, "वह नहीं, अरे वही सुनार, सब्जी मंडीवाला."

पेशानी पर बल डाल, आंखें चमका, बात समझते हुए जमीलन ने कहा, "हूं."और फिर पान पर कत्था लगाने लगी.

पान के बीड़े मुंह में दबाकर दामन से हाथ पोछते हुए जमीलन ने पूछा, "मिला क्या?"

शकीला ने रेशमी दुपट्टा निकालकर दस-दस के दो नोट मां की हथेली पर रख दिये.

मुट्ठी में नोटों को दबाते हुए कोमल स्वर में जमीलन ने कहा, "तो कहके क्यों नहीं गयी थी." शकीला सिर झुकाकर चुपचाप बैठी रही.

थोड़ी देर बाद जमीलन स्नेहपूर्वक बोली, "अच्छा जा, कपड़े बदल, मैं बाजार से पूड़ी मंगाये देती हूं." जमीलन उठी और गली में आकर खड़ी हो गयी, पूड़ी मंगाने के लिए वह किसी परिचित को खोज रही थी. संयोगवश मियां बुलाकी थोड़ी देर बाद उधर से निकले. अदा के साथ मुस्कराते हुए बुलाकी मियां ने कहा, "किसका इंतजार हो रहा है?"

"तुम्हारा ही." जमीलन ने जरा मुस्कराकर उत्तर दिया.

"ओफ, ओह! खुदा इतना झूठ न बोलो तो क्या हो जाये?"

"अपनी जान-कसम, झूठ नहीं. सोच रही थी, इधर से कोई आता जाता दिखाई पड़े. शकीला भूखी बैठी है, बाजार से पूड़ी मंगानी थी. जरा तुम्हीं ले आओ लपक के."

अकेली गली में खड़े-खड़े मूंछों पर हाथ फेरते हुए तृषित नेत्रों से उसने एक बार जमीलन की ओर ताका और फिर उसके कंधे पर हाथ रखते हुए कहा, 'बोलो, क्या मंगाती हो? लाओ, ले आऊं?"

जमीलन ने अठन्नी का नुस्खा बतला दिया. बुलाकी मियां जाने लगे. जमीलन ने पुकारकर कहा, "अरे पैसे तो लेते जाओ."

पीछे की ओर गर्दन घुमाकर मियां बुलाकी चलते-चलते बोले, "रख लो, फिर काम आयेंगे."

उस दिन शाम को जमीलन ने शकीला को मारते-मारते अधमरी कर डाला. बड़ी मुश्किल से मुहम्दी उसे बचा सकी. मियां शब्बन अलग से ही आंसू-भरी आंखों से उसे देखते रहे. शकीला रो-रोकर कह रही थी, "हाय मरी, हाय मरी". जमीलन घूंसों और थप्पड़ से उसकी पूजा करती हुई हांफ-हांफकर कह रही थी, "जा, जा न, और जायेगी?"

मुहम्मदी अपनी पुरजोर शक्ति से जमीलन को पीछे ढकेलती हुई कह रही थी, "अरे बस-बस, बहुत हुआ. छोड़ दो उसे. अब मत मारो, वाह रे जोम! 'ओफ हो तौबा रे तौबा." कहकर उसने अपने गालों पर धीरे-से चपत मारकर कान उमेठ लिये.

शकीला का अपराध दंड को देखते हुए बहुत कम था. बात यह थी कि शकीला ने शाम के वक्त जाकर शहजादी से बड़े लहजे के साथ कहा, "मौसी, आज पान नहीं खिलाओगी?"

आये दिन होनेवाली कलह और सुलह की तरह शकीला ने आज भी संधि हुई जान ली थी, पर शहजादी उस दिन बेहद चिढ़ी हुई थी. इसी से उसने शकीला को हजारों जली-कटी बातें सुनायीं.

जमीलन का चेहरा क्रोध से तमतमा उठा. शीघ्रतापूर्वक आकर शकीला को घसीटती हुई अपनी कोठरी में चली गयी और जमीलन हांफते-हांफते अपनी चारपाई पर.

रात के आठ बजे किसी ने दरवाजे पर थपक दी. जमीलन चारपाई से उठकर चटर-पटर चप्पल चटकाती हुई गयी और कुंडी खोलकर देखा, मुन्ना था.

"आइए, आइए." मुस्कराने का निष्फल प्रयत्न करते हुए जमीलन ने उसका स्वागत किया. जरा-सी बात पर शकीला को कितना मारा! रह-रहकर उसे इसी का ध्यान हो आता था.

मुन्ना ने पूछा, "शकीला कहां है?"

"अभी बुलाती हूं, आप ऊपर तशरीफ रखें."

ऊपर छत पर एक काठ का छोटा-सा कमरा था—वही उसकी रूप की दूकान थी. मुन्ना को ऊपर बैठाकर उसने नीचे आकर शकीला की कोठरी के किवाड़ों को थपथपाया.

"शकीला, अरी शकीला! जरा कुंडा खोल तो बिटिया!" शकीला ने कोई उत्तर नहीं दिया.

"अरी मुन्ना बाबू आये हैं.?"

किवाड़ तब भी बंद रहे. बड़ी देर बाद मां बार-बार मिन्नत करने पर उसने कुंडी खोल दी.

उसके सिर पर प्रेम के साथ हाथ फेरते हुए उसने कहा, "क्यों गयी थी उस जलमुंही, मरी-पीटी के पास?"

शकीला तकिये में मुंह छिपाये जोर-जोर से सिसकने लगी. जमीलन भी रो पड़ी, "तुझे मेरे सिर की कसम, अब न रो मेरी बिटिया. उठ तो मेरी रानी, उठ-उठ."

थोड़ी देर बाद अपने को संभालकर जमीलन ने उससे कहा और हाथ पकड़कर उसे उठाना चाहा.

अपनी छाती से शकीला को कसकर जमीलन रोने लगी और शकीला की सिसकियों और आंसुओं के बीच जमीलन ने कहा, "अल्लाह करे, मेरे ये हाथ गल जायें. मेरी बेटी, मेरी बच्ची," वह उसके मस्तक को दोनों हाथों से अपनी छाती पर कसकर दबाये हुए थी. मुहम्मदी ने कोठरी के द्वार पर खड़े होकर उस दृश्य को देखा और फिर जमीलन से कहने लगी, "पहले तो ले के पीट डाला और अब फफड़दलाली करने चली, वाह री मौसी! ऐसे मना रही हो, अल्लाह कहीं सचमुच ही तुम्हारी बांहें न काट डाले."

". . शकीला, चल उठ, हाथ मुंह धो. रहने दे अब अपने नखरे. चल-चल यह चोंचलेबाजी ऊपर जाकर दिखाना. दो-एक झुमके और मिल जायेंगे. सुनार का बेटा है कि बातें."

मुहम्मदी ने उसका हाथ पकड़कर अपनी ओर घसीट लिया. वह मुस्करा रही थी, सूजे-से जलमग्न नेत्रों से उसकी ओर देखकर शकीला भी एक बार मुस्करा दी.

मुहम्मदी की मदद से हाथ-मुंह धोया, साड़ी बदली, पान खाया और ऊपर चली गयी. . . और ऐसे ही सारी रात बीत गयी. सुबह उठकर मुन्ना ने देखा कि शकीला बिस्तर पर न थी. उसने जमीलन से पूछा.

शकीला को आवाजें दीं, मुहम्मदी से पूछा, शब्बन से पूछा. शहजादी से भी पूछा. शकीला कहीं भी न थी. एकाएक उसने देखा, ड्योढ़ी की अर्गला तो खुली थी, पर किवाड़ मिड़े हुए थे. दोनों हाथों से अपना कपाल पीटकर वह रो पड़ी.

शकीला सचमुच फिर भाग गयी थी.

एक दिन, दो दिन, महीना, डेढ़ महीना—कुछ पता नहीं, जमीलन के लिए धरती जैसे उसकी शकीला को निगल ही गयी थी. वह दरोगा जी की खिदमत में गयी, "हवलदारों की पाशविक मनोवृत्तियों की छाप गालों और. . . और अवनत स्तनों पर लगाकर लौट आयी, परंतु शकीला न आयी, न आयी.

जवानी की कमाई की बची-खुची स्मृतियों को एक-एक कर उसने बेचा और खा डाला. अच्छा भोजन किया, दिन में चार बार सिंगार करना शुरू किया. मुहम्मदी को अकेले में बुलाकर जमीलन कहती, "जरा मेरी चोटी तो कस दे मेरी गुइयां. आय-हाय, आज तो तू बड़ी खूबसूरत जंच रही है."

बात समझकर मुहम्मदी जमीलन का जूड़ा बांधते-बांधते कहती, "लेकिन मौसी, तुमसे कम ही कम. गजब ढाती हो तुम तो. सारा बाजार तुम्हें देखता है घूर-घूरकर, जैसे कोई हूर खड़ी हो?"

"ए चल हट मुई! तुझे बातें बनाना खूब आता है." मन ही मन प्रसन्न और गर्वित हो जमीलन उसे उत्तर देती.

दिन चुपचाप यों ही बीत रहे थे. जमीलन बड़े सजाव के साथ बाजार के आने-जाने वालों को देखती. बहुत-से उसे भी देखते, परंतु आता उसके यहां कोई भी न था.

एक दिन मुहम्मदी भी कहीं चली गयी—तीन दिन के लिए जमीलन के लिए वे दिन कयामत के दिन थे.

सुनसान गली में ही आंखें फाड़-फाड़कर जमीलन जैसे कुछ खोज रही थी. बाजार में जाते हुए मुन्ना को उसने देखा. वह दौड़ी हुई गयी मुन्ना को बुलाने. वह भी उधर ही आ रहा था.

मुन्ना ने पूछा, "शकीला आ गयी?"

"शकीला गयी भाड़ में! उससे तुम्हें क्या मतलब?" कह उसने मुन्ना का हाथ पकड़ लिया और घर में ले गयी.

चारपाई पर उसे बिठाकर बोली, "तुम तो अब आते भी नहीं, क्यों?"

"क्या करूं? किसके लिए आऊं?" मुन्ना जमीलन को यह दिखाना चाहता था कि उसे शकीला से कितना अधिक प्रेम था और अब भी बाकी है.

कटीली कनखियों से देखते हुए उसका हाथ अपने हाथ में दबाकर उसने कहा, "क्यों, क्या मैं खूबसूरत नहीं हूं? बोलो प्यारे, बोलो."

फिर दोनों हाथ सिर के पीछे छत की कड़ियों की ओर देखते हुए झूमकर गुनगुनाना शुरू किया : "क्या इश्क ने समझा है, क्या हुस्न ने जाना है, हम खाक-नशीनों की, ठोकर पे जमाना है!"

गाकर उसने एक बार मुन्ना की ओर देखा, फिर हंस पड़ी. उसके पास सरक अंगड़ाई लेते हुए उसने पूछा, "आज चुप क्यों हो मेरी जान!"

मुन्ना अचानक उठा. वह क्या बताये कि वह चुप क्यों है? कुछ देर बाद जमीलन ने फिर पूछा, "हमसे कुछ खफा हो?"

मुन्ना ने मुस्कराकर उत्तर दिया, "नहीं तो, भला तुमसे कौन खफा हो सकता है? हां, यह तो बताओ, घर में और सब कहां हैं?"

जमीलन ने मुंह फुलाकर आंखें तरेरते हुए हाथ से मुन्ना को धीमा-सा धक्का देकर कहा, "तुम्हें दूसरों से क्या मतलब? ऐ हां, तब से हजार बार पूछ चुके हो, शकीला कहां है, फलानी कहां है. दिमाग़ी नहीं दिखाई पड़ती? कोई तो आप पर जान दे और आप ऐसे कि. . .?"

मुन्ना चुपचाप बैठा हुआ उसकी ओर ताक रहा था. जमीलन कुछ देर चुप रही, फिर कनखियों से देखते हुए मुस्करा पड़ी.

वह मुन्ना के और पास खिसक आयी, खिसकती ही आयी और उसकी गोदी में अपने-आप को बिलकुल छोड़ दिया.

मुन्ना अब उलझन में पड़ा. वह जमीलन से पीछा छुड़ाना चाहता था. उसने कहा, "अच्छा, इस वक्त जाने दो. मुझे काम है. फिर आ जाऊंगा."

मुन्ना अपने को अलग करने की कोशिश करने जा ही रहा था कि जमीलन ने उसे अपनी ओर खींचकर अपनापन जताते हुए कहा, "यह भी जाने का कोई वक्त है? नहीं, अब न जाने पाओगे."

जमीलन की सारी चेष्टाएं मुन्ना को अपनी ओर खींचने का प्रयत्न कर रही थीं. उत्साहित होकर वह अपनी एक-एक अदा से, बचपन से लेकर अब तक आजमाए हुए प्रयोगों से उन्मत्त होकर मुन्ना को रिझाना चाहती थी.

उस वक्त उसकी बांकी अदा में कितना बांकपन था, कितना मजा था, कितना. . .

मुन्ना सचमुच में घबरा उठा था.

आखिर उससे न रहा गया. अपनी पूरी ताकत से जमीलन को ढकेलकर भागा.

जमीलन दूर जा पड़ी. समूची शक्ति लगाकर उठना चाहा, पर उठ न सकी, वहीं ढह गयी. अकर्मण्य रोष घुमड़-घुमड़कर उसके अंग-अंग को जैसे उमेठ रहा था. होंठ बार-बार फड़फड़ा कर रह जाते थे, मानों कह रहे हों, 'शकीला, आ बेटी, आ जा." जैसे उसकी दोनों बांहें टूट गयी थीं, मुहम्मदी भी नहीं, शकीला भी नहीं, और वह भूखी थी. □

आप किस उम्मीद पर जिंदा हैं?

सन् 1979 में देवेंद्र उपाध्याय ने दिल्ली में बैठे-ठाले नागरजी से पत्र लिखकर पूछा कि आप किस उम्मीद पर जिंदा हैं?. . . तो नागरजी ने जो जवाब भिजवाया, वह अब सन् 1985 में यहां प्रकाशित हो रहा है.

वर्तमान जीवन में हमारे राष्ट्रीय मानस को बहुत असुख होते हुए हमें यह न भूलना चाहिए कि वह उत्तरोत्तर उजाले की ओर बढ़ रहा है.

हमारे इतिहास के लंबे क्रम में अंधेरे-उजाले के अनेक पन्ने पड़े हुए हैं. अगर हम मोटा हिसाब भी लगायें तो यह दिखलायी देता है कि लगभग ईसा से हजार-बारह सौ वर्ष पहले शायद हमारे महाभारत वाले पुरखे रहे होंगे. पुरखों की बात है, इसीलिए स्वाभाविक गौरव मंडित बनकर हमारे मनों में प्रवेश करती है, लेकिन यदि आप विचारपूर्वक सोचें तो वह जमाना बेहद खराब था. राजनीति जुए के दावों पर चलती थी. भरे राज-दरबार में एक स्त्री को नंगा करके अपमानित भी किया जाता था. सोचिए कि उस जमाने में लोग आखिर किस उम्मीद पर जिये होंगे, लेकिन दो-चार सौ वर्षों की कशमकश के बाद ही नया वैचारिक वातावरण सक्रिय होने लगा. उपनिषदों के चिंतकगण और महावीर, बुद्ध जैसे महापुरुषों के अवतरण से नया जमाना आगे बढ़ा. चाणक्य और उनके शिष्य चंद्रगुप्त मौर्य जैसे महान राजनीतिज्ञ आये. हिंदुस्तानी साम्राज्य का नक्शा ईरान तक फैला. फिर अशोक ने बौद्ध धर्म की मशाल लेकर सारे एशिया में उजाला किया. उसके बाद धीरे-धीरे फिर देशकाल पर गहन अंधेरा छा गया. उस अंधे जमाने में भी लोगों को किसी न किसी तरह जीने की सूझ तो मिली ही होगी. इसी तरह इतिहास के लंबे क्रम पर ध्यान देने से हमें आज के अंधेरे में भी जीने के लिए बहुत-सी उम्मीदें बंधती हैं.

साहित्य में अपने उदय काल से लेकर आज तक के क्रम में मैंने हिंदी साहित्य को उत्तरोत्तर फलते-फूलते देखा है. पहले किसी लेखक के पास यदि किसी अन्य प्रदेश से उसकी रचना पर प्रशंसाभरा पत्र आ जाता था तो बड़ी बात होती थी. चर्चे होते थे. रचना के अनुवाद भी हुए तो धूम मच गयी. अब अच्छी रचनाओं के लेखकों को सारे भारत से पत्र प्रायः मिलते रहते हैं. जो हिंदी मेरे बचपन में केवल हिंदुओं की ही थी, वह अब हमारी भाषा के विशाल क्षेत्र में मुसलमानों और ईसाइयों की भी हो गयी है. अनेक मुस्लिम विद्वान अब अनेक हिंदू, मुस्लिम, सिख, ईसाई सभी नौजवानों को कालेजों और क्लास रूमों में हिंदी पढ़ाते हैं. संस्कृत भी पढ़ाते हैं. हिंदी साहित्य की रचना में सक्रिय योगदान देते हैं—हिंदी का सामाजिक दायरा उचित ढंग से अब व्यापक हो गया है.

यदि हम ज्ञान-विज्ञान आदि अन्य क्षेत्रों में देखें तो इस महाखोखड़—खोखड़तर—खोखड़तम जमाने में भी भारतीय मानस की जागरूकता आज भी दिखलायी देती है. मैं इस दिये की टिमटिमाहट पर जीता हूं. अंधेरे में भी रोशनी के कण चमकते हैं. □

● प्रस्तुति : देवेंद्र उपाध्याय

भूख

बयालीस वर्ष पहले बंग दुर्भिक्ष में मनुष्य की चरम दयनीयता और परम दानवता के दृश्य नागरजी ने कलकत्ते में खुद अपनी आंखों से देखे थे. यह एक ऐसा अनुभव था जो चार साल बाद ही 'महाकाल' उपन्यास के रूप में सामने आया.

मानवीय करुणा के मार्मिक चित्रों की अविस्मरणीय कथाओं का यह दस्तावेज कलामय यथार्थ का अनूठा उदाहरण है. प्रस्तुत है इसी उपन्यास का संक्षिप्त रूपांतर.

मोहनपुर ऐंग्लो-बंगाली स्कूल के बरामदे में पैर रखते ही हेडमास्टर पांचू गोपाल मुखर्जी को ध्यान हो आया कि हीरू बाग्दी का लड़का गणेश लगातार दस दिन तक मलेरिया शरीर की सारी शक्ति के साथ भूख से लड़कर, आज सवेरे चल बसा. पांचू को लगा जैसे कि आज उसका स्कूल मर गया. गणेश की मृत्यु ने सहसा उसकी और उसके परिवार के आने वाले कल की तस्वीर उसके सामने लाकर खड़ी कर दी.

दीवार पर स्कूल में लगाये जाने के लिए भेजे गये सरकारी पोस्टर चिपके थे. पहला पोस्टर था—"अन्न की पैदावार बढ़ाओ!" पांचू ने झटककर पोस्टर को चीर डाला. निःश्वास छोड़ते हुए पांचू ने कमरे का ताला खोला. फिर झटपट क्लास रूम में घुस गया, जैसे सुरक्षित जगह में पहुंच जाना चाहता हो.

कमरा स्तब्ध. डेस्कों पर स्याही के तमाम दाग और गर्द की पर्तें. बोर्ड पर भी धूल जमी थी. जब से वह गांव छोड़कर गया है किसी ने स्कूल की सफाई नहीं की. उसने भी नहीं. तो क्या स्कूल बंद हो जायेगा.

पांचू ने अपनी जेब से रूमाल निकालकर डेस्क साफ करने शुरू कर दिये. दीमकें सारा काठ चाटे जा रही थीं. . . .एक सौ बाईस लड़कों में से धीरे-धीरे बीस गये, पच्चीस गये, पचास गये. आज 19 मार्च है और स्कूल में एक भी लड़का नहीं. कानाई मास्टर जनवरी में ही गांव छोड़कर पछांह चला गया था. गोविंद मास्टर भी मार्च के पहले हफ्ते में चले गये. गणेश भी . . .

उसने अपना फाउंटेनपेन जेब से निकाला. मेज पर रखा. दराज में चॉक स्टिकों का आधा भरा हुआ डिब्बा, डस्टर, दवात और पीछे की तरफ कागजों का एक बंडल दिखा . . . 'अभी जरा देर के लिए दराज खुली छोड़कर चला जाऊं कि . . . लेकिन लड़के कहां हैं?'

पांचू इस बार खुद को धोखा न दे सका. कमरा स्तब्ध. डेस्क और बैंचों की लंबी-लंबी चार सूनी कतारें. स्याही के दाग और उन पर गर्द की पर्तें . . . पांचू का दम घुटने लगा. चॉक स्टिकों से आधे भरे डिब्बे को उसने डेस्कों पर उछाल दिया. उसका दिल भर आया.

पांच महीने ही तो हुए हैं. बारह रुपये मन चावल बेचकर गांव का हर किसान कितना खुश नजर आ रहा था. घरों का धान भी उठा-उठाकर बेच दिया. पैसे की गर्मी से किसान बौरा गया. दयाल जमींदार और मोनाई की उधार-वसूली शुरू हुई. पैसा तो अनेक मदों में खर्च हो चला था. कचहरियों से सम्मन आने लगे. सुहागिनों के तन के गहने उतर गये. बचा-खुचा चोर-डाकू ले गये. परजा मुंह देखती रह गयी.

पांचू को अपने घर की याद आयी. चार दिन से उसके घर में भी अकाल पड़ रहा है . . . आज शाम को दयाल जमींदार के यहां से चावल मिल ही जायेगा. घर-घर में चूल्हे ठंडे पड़े हैं . . . पार्वती काकी मरी, हारान मरा, तिनकौड़ी मरा, गणेश मरा. इसी तरह एक दिन . . .

पांचू काफी बुरी तरह विचलित हो गया. दराज के कागज पटलते हुए उसे एस्प्रो का पैकेट मिला. 'निगल जाऊं! नहीं चबाना चाहिए!' उसने सोचा और टिकियों को चबाने की कोशिश करने लगा . . . अंजुली भर-भरकर उसने खूब पानी पिया. उसका पेट तन गया था. उसने सोचना शुरू किया कि उसका पेट भरा हुआ है.

पांचू ने अंदाजा लगाया . . . अभी ढाई बज रहे होंगे. साढ़े तीन बजे चलना ठीक रहेगा. दयाल बाबू सोचेंगे, चावल लेना है, इसलिए जल्दी चला आया. पांचू सोच रहा था आठ रुपये में तो हर महीने पंद्रह सेर देने से रहे. तन्ख्वाह बढ़ा दें तो गुजारा चल सकता है.

दराज में पड़ा मां का पत्र आंखों के सामने आया तो पांचू की आंखों के सामने बीते हुए दिन एक-एक कर सामने आने लगे . . . कैसे उसने रामदुलाल खूड़ो के व्यंग्य की प्रतिक्रिया स्वरूप गणेश को पढ़ाना शुरू कर दिया था. उस रोज पांचू ने गणेश से कहा था, "गणेश, अगर तू न आया होता तो गांव में आज यह स्कूल भी न होता!"

. . . आज गणेश नहीं रहा, यह स्कूल भी नहीं रहा!

"बड़ी बहू! चलो-चलो. वखत न गंवाओ. चूल्हा संजो के तैयार रखो हां! और पानी की पतीली गरम होने को रख दो. पांचू के आते ही चावल उसमें डाल दिया जायेगा—बस दिन भर में भात रंधकर तैयार!" पानी पीकर रीता गिलास हाथ में लिये पार्वती मां, एक सुर में बोलती हुई, गिलास मांजने में फुर्ती दिखाने लगी.

भूख को व्रत का बहाना देकर सारा घर आज चार दिन से टाल रहा है. बड़ी बहू फीकी हंसी हंसकर बोली, "हम लोग तो पानी पी-पीकर जी लेंगे . . . पर चुन्नी का क्या होगा!" चुन्नी रोते-रोते हांफने लगी है.

"अरे अभी आते होंगे चावल लेकर! तू घबराती क्यों है?" मंगला ने सांत्वना देने की कोशिश की.

शिबू के साथ दहलीज पार कर दो-तीन लोग दालान में आ चुके थे. शिबू आगे, उसके पीछे सोमेन, पांचू का अनन्य मित्र. शिबू सबको ऊपर कमरे में लिए जा रहा था. शिबू की लीडरी में एक शान है.

सोमेन आजिज आ चुका था. पांचू के कारण वह शिबू का अदब करता है. शिबू को अपनी 'मेड इन इंडिया' अंग्रेजी पर भी नाज है. वह धाराप्रवाह भाषण देते हुए अपनी लीडरी झाड़े चला जा रहा था. सोमेन को अचानक एक तरकीब सूझी. उसने पूछा, "दादा, तो कल डेपुटेशन लेकर चलना है न!"

"चलना माने की, अरे, आई गो . . ." दादा को झटका लगा.

"तो बस मैं जाता हूं! दस गांव के आदमी इकट्ठा करके आपके जुलूस का प्रबंध करना है!"

दयाल जमींदार के यहां पांचू यह आस लगाकर गया था कि सहारे के लिए एक और जुगाड़ लगायेगा, सो उल्टे ट्यूशन भी गयी. जमींदार अपनी पत्नी और बच्चों को कल पंछाह भेज रहे हैं.

लौटते हुए पांचू मौत को बहुत नजदीक से देख रहा था. इस अकाल में एक दिन यही हालत उसकी और उसके घरवालों की भी होती . . .लेकिन अभी तो उसके पास चावल हैं. घरवाले उसकी प्रतीक्षा कर रहे होंगे. दीनू, परेश, नन्ही, चुन्नी, कनक . . . पांचू तेजी से अपने घर की तरफ चलने लगा. थोड़ी ही दूर पर मोनाई की दूकान थी. कितने ही नर-कंकाल झुके हुए चावल की सिर्फ एक कनी को ढूंढ़ रहे थे.

पांचू सोचने लगा, 'इन इंसानों को कोई इंसान मानेगा रईसों और अफसरों की दुनिया में?' सहसा पांचू का ध्यान टूटा. मोनाई की दूकान के सामने पांच-छः जीवित कंकाल एक को घेरे हुए छीना-झपटी और हाथापायी कर रहे थे. घिरे हुए इस आदमी की चीख अचानक घुट-सी गयी. घिरा हुआ आदमी गिर पड़ा. यह मुनीर बढ़ई था.

मुनीर ने उसके स्कूल की बिल्डिंग में लकड़ी का काम किया था. वह इसे दफनाने का प्रयत्न करेगा.

उधर भूतों की मस्जिद के पास मुनीर की बीवी खाना खा रही थी. अजीम पास ही बैठा उसके बदन पर हाथ फेर रहा था. बीच-बीच में उसकी आंखें चढ़ जाती थीं.

बढ़ई नुरुद्दीन मुनीर की मौत की खबर पाकर उसके घर आ पहुंचा था. उसके दिमाग में यह फितूर सवार था कि औरत खाली हुई है. शहर ले चलें . . . अपने काम आयेगी! घर के पिछवाड़े ऊसर खेत में कब्र खोदते हुए उसका दिमाग मुनीर की बीबी पर अटका था. उसने सोचा, मां का दिल जीतने के लिए लौंडियों को ही हथियार बनाना चाहिए. इस बीच काम से फारिग होकर उसने पांचू की चावलों भरी पोटली भी देख ली थी. बस, फिर क्या था . . . बेचारे पांचू को यह कहकर कि चावल तो अशुद्ध हो गये, नुरुद्दीन ने सारे चावल मुनीर की बच्चियों के लिए ही धरवा लिये.

पांचू की, खाली हाथ, घर में घुसने की हिम्मत न हुई. वह मोनाई की दूकान की तरफ गया कि स्कूल की डेस्कें ही बेच दी जायें . . . पर वहां बड़े संकोच के बाद वह मोनाई के ही कहने पर राजी हो पाया. उसके संस्कार वहां भी दीवार बन गये. अंततः स्कूल की चाबी दे दस सेर चावल लेकर पांचू घर पहुंचा.

किफायत के साथ खाने पर भी छः सेर चावल तो दस दिन में ही निबट गये. मोनाई ने अब तक स्कूल का फर्नीचर औने-पौने कर दिया होगा! पांचू ने सोचा, मोनाई से चलकर हिसाब समझ लिया जाये.

मोनाई की दूकान में कपड़ों का ढेर था, टूटे-पुराने बर्तनों का ढेर था, लोहा-लंगड़, मुड्ढों के चाल, चारपाई के पांव वगैरा जमा हो रहे थे. मोनाई बकता था, गालियां देता था, माल रखता था और अजीम से चिट्ठे में दाम टंकवाता चलता था. सबके नाम लिखकर, बाद में पैसे वगैरह बांटे जायेंगे, यह कह दिया गया था. पांचू सोच रहा था—'अगर उसके घर में भी कभी बहुत दिनों तक अकाल पड़ने की नौबत आयी तो . . . क्या रिश्ते, आबरू, ममता, मोह,शील, विनय—यह सब कुछ क्या उसके घर में टिके रह सकेंगे?'

पांचू मोनाई की दूकान के पास गया.

लोग शिकायत कर रहे थे, "तुमने पहले क्यों नहीं बताया? तुमने हमारा सामान क्यों खरीदा?" लोग शिकायतें कर रहे थे. जोश में भीड़ मोनाई के घर में ही घुस गयी. घर की हर चीज तोड़ी-फोड़ी जाने लगी. गोदाम में बोरियों पर बोरियां चिनी पड़ी थीं. लूट-पाट शुरू हो गयी थी. मोनाई पिटा-पिटाया देख रहा था. तभी एकाएक खुशी मौत की चीखों में बदल गयी. पांचू दूर कोने में खड़ा सारा कांड देख रहा था.

अजीम अपनी शेखी बघार रहा था कि किस तरह उसने तुरंत जाकर दयाल जमींदार से मदद मांगी और इन सिपाहियों को लेकर यहां आया.

थोड़ी देर बाद ही दयाल जमींदार आ पहुंचे. उन्होंने तहकीकात की. पूरा केस सुना. बदमाश गांववालों को गालियां दीं और मोनाई को सलाह दी कि दरोगा के आने से पहले तहखाने से लाशों को हटाकर गोदाम में भरवा दिया जाये. पांचू को दयाल बाबू ने पान की गिलौरी खिलाने के साथ-साथ अपनी ही चौकी पर बिठाया.

मोनाई ने प्रेत-भोज दिया था. दस दिन पहले उसके घर पर चौबीस हत्याएं हुई थीं. मोनाई ने हर एक के नाम पर ब्राह्मन न्यौते थे. "मेरा पैसा तो डूब गया बाबू . . ." पांचू से उसने कहा था.

दूर बांस के पुल पर बैठा हुआ पांचू मोनाई के मंदिर के सामने जूठी पत्तलों के लिए चील, कौओं और आदमियों में होनेवाली लड़ाई देख रहा था. मोनाई के मंदिर से, भोजन के बाद निकले कई ब्राह्मणों को ज्यादा खाने के कारण चक्कर आने लगा. बहुतों को वमन होने लगी.

तभी हाली मवालियों के साथ दयाल जमींदार आ पहुंचे. दृश्य देख दयाल बाबू की दया उमड़ी. काफी कुछ सुनाने के बाद दयाल ने मोनाई को पटखनी दी, ". . . मेरी भूखी प्रजा को जूठन खिला-कर तुच्छ बनाना चाहते हो . . . आज शाम तक हर आदमी को एक-एक सेर चावल बांट दो!"

पांचू के साथ लौटते हुए दयाल बाबू खुश थे. मोनाई के गोदाम की चाभी छेदीसिंह को लाने को कहकर वे आदेश दे चुके थे, "रोज सवेरे-शाम दीन दुखियों को चावल बांटो. गांव में ढिंढोरा पिटवा दो . . . दरोगाजी का आदमी आये तो कह देना, मैंने दरोगाजी को बुलवाया है . . ."

मोनाई हाथ मलता रह गया. उसकी दरोगा वाली धमकी का

दयाल पर कोई असर हुआ न लगता था. कोठी पर पहुंचते ही दीवान-जी ने जमींदार को सूचना दी कि यूनियन बोर्ड के सेक्रेटरी मि. दास आये हैं. दयाल जमींदार आज पांचू को अपने शीश महल में ले चले.

मोनाई एक दिन की लूट में ही ठंडा पड़ गया था. चावल की लूट से भी ज्यादा उसे जूतों की मार खाने का गम था. दयाल के सिपाही के जूतों से बचने के लिए उसे दयाल की ही शरण में आना पड़ा. उसने बिना किसी शर्त के दयाल के सामने समर्पण कर दिया.

मि. दास तशरीफ लाये. लंबी कांपती उसांस लेकर मोनाई टूट गया. उसे पूरा यकीन हो गया कि ये राहू-केतु मिलकर हमें आज जीता न छोड़ेंगे. शीश महल जगमगा उठा. इन लोगों ने अब जाना कि बाहर अंधेरा हो गया है. शराब, बिलायती रोमांस की बातें . . . और मि. दास, दयाल और पांचू. शराब के साथ मुंह चलाने का सामान भी आ गया था. शराब की झोंक में आकर दयाल जमींदार अपनी धुन में कहते गये, "मास्टर, तुम हमारी परशंशा में अच्छा-अच्छा लेख लिखो. तस्वीरें छपाओ हमारी सब अखबारों में. ऐं, क्या हम काबिल नहीं हैं?"

पांचू दो शराबियों के बीच घिर गया था. उसका पहला गिलास ही अभी खाली न हुआ था. एक नौकर आया और बोला, "मोनाई ने दो औरतें भिजवायी हैं!"

घूंघट हटे तो पांचू ने देखा—बढ़ई मुनीर की विधवा और उसके बचपन के मित्र कालीराय की पत्नी—जिसे वह बौदी कहता है . . . वह तेजी से कमरा छोड़कर बाहर चला गया. उसके लिए जीवन असह्य हो उठा था. बौंदी से बौंदी तक . . . घर तक . . . तुलसी, मंगला . . .

पांचू और तेजी से आगे बढ़ने लगा.

मोनाई की दुकान दिखाई देने लगी. शोर और हंसी सुनाई देने लगी. स्कूल में आग लगी है . . . मोनाई की दुकान सूनी पड़ी थी. वह दौड़ने लगा.

दिन ढले, छेदासिंह ढेले पर बोरे लदवाकर स्कूल में लाया था. छेदासिंह ने गांव में चावल बांटना शुरू किया. जितनी बन सकती थी कांट-फांस की. फिर भी चावल सबको मिल रहा था. . . अजीम गुस्से से उबल पड़ता था. जिस तरह से आज छेदासिंह ने मोनाई की बेइज्जती की थी . . . उसके लिए वह दिल-ही दिल में बेताब हो रहा था. अंधेरा होते ही उसने पोखर के पीछे से जाकर स्कूल के कमरे में आग लगा दी.

उधर अजीम के कंधे पर हाथ रखे दबी जबान में मोनाई कह रहा था, "बेटे, अपने बाप से जाकर कह कि तुर्त-फुर्त आठ नावों का बंदोबस्त कर दे . . . दुई घंटे में सब सरोजाम हुई जाई समझे? . . . दुई सौ रुपै अंटी में बांध कै छेदा सिंह के पास लपक जाना. और सुनो—यूनन बोट के सित्तरी साब आये हैं. मैंने पानी चढ़ाया. तुम्हारी वे दो औरतें भी काम करेंगी . . . अभी पंद्रा पर अड़े थे, मुल साइत कल मान भी जायें. . . . पौने पंद्रह तक जाकै पटाना . . . फिर भी न मानें तो रुपिया पटक कै माल उठा लाओ! बड़ा जखम कीना है जमींदार ससुरे ने!"

मोनाई की बांह झिंझोड़कर अजीम ने धीरे से कहा, "चाचा . . . छोटे ठाकुर . . . !"

पोखर के किनारे खड़ा पांचू टकटकी बांधकर स्कूल से उठती हुई लपटों को देख रहा था. पांचू का सपना जल रहा था. मोनाई उसी रात माल लदवाकर बाहर चला गया. अजीम मोनाई को धोखा देकर सेठ पहले ही बन चुका था.

मोनाई से अजीम की यह बढ़ोतरी न देखी गयी. उसने दयाल जमींदार के लठैतों से नुरुद्दीन को औरतों के साथ गिरफ्तार कराया. औरतें श्री सनातन धर्म अनाथालय में भेज दी गयीं. हिंदू भी थीं मुसलमान भी.

अजीम और नुरुद्दीन अपने व्यवसाय में चोट खाकर इस्लाम को खतरे में महसूस करने लगे थे. वे गौरीपुर के नवाब साहब के यहां जा पहुंचे.

शेरे इस्लाम तैश खा गया. पुरानी अदावत फिर से जोर मार गयी. नवाब साहब की कोठी से निकलकर वे गांव की तरफ आ रहे थे कि मोनाई रास्ते में ही मिल गया. उसने नुरुद्दीन और अजीम को ऐसा पटाया कि वे सारी योजनाएं ही भूल गये. अजीम तो सर झुकाये उसके साथ ही चला गया. हमले की योजना दयाल की हवेली से उठकर सर-सुतीपुर पहुंच गयी जहां मोनाई ने औरतें रखी हुई थीं.

चौक युनिवर्सिटी के वी. सी. पं. नागर

मैंने कहा, "अब तुम पी.एच. डी. कर डालो."

मैं पंडितजी ने जवाब दिया, 'पहले इंटर करना पड़ेगा. फिर बी.ए. फिर, एम. ए. बड़ी मेहनत करनी पड़ेगी. अब पी. एच. डी. बी. एच. का मोह नहीं है. पहले था. तुमने पंडित की उपाधि दे दी. यह बहुत है."

फिर बोले, 'चौक हमारी युनिवर्सिटी, हम उसके वाइस चांसलर हैं."

(डा. राम विलास शर्मा की पुस्तक 'पंचरत्न' से)

कनक की लड़कियों में अच्छी तरह सुला भी न पाये थे कि गिद्धों के झुंड ने लाश पर धावा बोल दिया. यह घर में मौत का पहला दिन था. शिबू और पांचू चुन्नी को दफनाकर लौटे तो कनक को उठाने की बारी आ गई थी. गांव में आबरूदारों का बुरा हाल था. आबरू नाम की कोई चीज उनके साथ नहीं रह गयी थी.

पांचू की कल्पना अपने गांव से लेकर कलकत्ते तक के विनाश का दृश्य देख रही थी. उसकी कल्पना सारे विश्व को मानव-शून्य देख रही थी. मंगला उसकी छाती में मुंह छिपाकर सो गयी थी.

सहसा बौदी की चीखें सुनाई दीं. मंगला और पांचू सहमकर एक दूसरे की तरफ देखने लगे.

आंगन में शिबू अपनी पत्नी को नंगा करके उस पर बलात्कार करने पर तुला हुआ था. पांचू घर छोड़ कर भाग निकला.

बांयी तरफ खंडहर में कोई पड़ा दिखाई दिया. ताजा पैदा हुआ बच्चा मृत मां की एक टांग पर चढ़कर हाथ-पैर पटक रहा था और रो रहा था. पांचू के नयी समस्या थी . . . बच्चा बचेगा कैसे! 'मां के मर जाने के बाद भी यह जीवित रहा, क्या यह घटना जीवन के सत्य को सिद्ध नहीं करती?'

पांचू ने बच्चे को सीने से लगा लिया, 'इसे बचाना चाहिए.' . . . मंगला के अंदर सोयी मां जरूर इसे छाती से लगा लेगी. पांचू के मन में नयी आस्था जागी—'हां, मैं लड़ूंगा. मोनाई से. दयाल से . . . उन सबसे जिनके पास भूख के साधन छीनकर जमा हैं.'

गांव में हालत बदतर होती जा रही थी औरतें तन बेचकर भी खाना जुटाने को तैयार थीं.

मंगला अकेली रह गयी. घर में चार लाशें पड़ी हैं. घर खाली था. जीवन के लिए मंगला को कहीं से भी प्रेरणा नहीं मिल रही थी . . . फिर भी वह मरना नहीं चाहती थी. उसकी आंखें यद्यपि खुली थीं किंतु पथरा-सी गयी थीं. मंगला ने देखा—'वह' सामने खड़े थे. उनकी गोद में बच्चा था जो रो रहा था. पति को देखते ही संतोष के अतिरेक से मंगला की आंखों में आंसू छलछला आये. अवरुद्ध कंठ से स्वर फूटा, "आ गये!"

पांचू ने झट से बच्चे को मां की गोद में डाल दिया और उसे पकड़कर बैठ गया, "इसे बचाना होगा मंगला! इसे बचाने के लिए ही मैं तुम्हारे पास लाया हूं."

अविश्वास के वातावरण में जीवन के प्रति विश्वास की इस दृढ़ता ने पति और पत्नी, दोनों को ही अपूर्व धैर्य और बल दिया . . . प्रलय में सृष्टि के बीजांकुर फूटने लगे . . . □

ओढ़री सरकार

आत्मावलोकन

'सारिका' के इस रजत जयंती वर्ष में जनवरी प्रथम अंक से प्रारंभ इस स्तंभ में हम गत चौबीस वर्षों में 'सारिका' में प्रकाशित प्रत्येक वर्ष की श्रेष्ठ कहानी का पुनः प्रकाशन कर रहे हैं. इसके साथ ही हम कहानी पर एक वरिष्ठ रचनाकार की टिप्पणी भी आमंत्रित करते हैं. इस क्रम में इस बार प्रस्तुत है 'सारिका' के अगस्त (प्रथम)-१९७८ अंक में प्रकाशित यह कहानी और वयोवृद्ध उपन्यासकार-कथाकार जैनेंद्र कुमार की टिप्पणी—

छुट्टी का दिन. गर्मी का मौसम. तापमान सैंतालिस डिगरी. पंखे की हवा जितनी आग उगल रही थी, उससे चौगुनी चिताएं हमारी जबानों पर सुलग रही थीं. सारा आक्रोश बढ़ती हुई अराजकता, महंगाई, नशाबंदी और आरक्षण के कारण था. लोग फिर से इंदिराजी और इमरजेंसी के हिमायती बन रहे थे. बहस की गर्मी मौसम की गर्मी से डबल होकर उबल रही थी. बहस की गर्माहट सबसे अधिक इंदिराजी के कारण बढ़ी. लल्लूबाबू अभी पांच ही मिनट पहले कमरे में दाखिल हुए थे. कोने में रखी सुराही से दो गिलास पानी पीकर उन्होंने तृप्ति की आह भरी; फिर गोष्ठी में सम्मिलित होते हुए बोले, "अजी साहब, आप लोग कुछ भी कहें, इंदिरा नाम में कुछ ऐसी तांत्रिक शक्ति है जो बड़े-बड़े लौह-पुरुषों को मोम-पुरुष बनाकर पिघला देती है. चाहे वो इंदिरा गांधी हों या इंदिरा सिंह.

"ऐं! ये इंदिरा सिंह कहां से टपक पड़ीं लल्लू बाबू?" विषय परिवर्तन से ताजगी पाकर मैंने पूछा.

"कौन इंदिरा सिंह?"

"अमां इतनी जल्दी भूल गये? प्रदेश के भूतपूर्व मुख्यमंत्री लाल रिपुदमनसिंह. . . "

"अच्छा-अच्छा, वो ओढ़री सरकार! क्या किया उसने?" प्रश्न जयशंकर ने किया. इन दोनों नामों से मेरा मन खोखले कनस्तर में पड़े मिट्टी के ढेले की तरह ढम-ढम बज उठा. लाल रिपुदमन सिंह मेरे पैंतालिस वर्ष पुराने घनिष्ट साथी हैं, यद्यपि तीस वर्ष में मेरी उनकी दोस्ती करीब-करीब बिलो फ्रीजिंग प्वाइंट तक आ चुकी है. कु. इंदिरा सिंह भी लालजू के नाते एक समय मेरे बहुत निकट थीं, मैं उन्हें 'भौजी' कहकर पुकारता था. रिपुदमन के मंत्री और मुख्यमंत्री वाले जमाने में इंदिरा सिंह 'ओढ़री सरकार' के नाम से गांव-गांव, गली-गली में सरनाम थीं. लाल रिपुदमन यदि राजनीति के लौह पुरुष माने जाते थे तो ओढ़री सरकार उनका लौह सार थीं. जयशंकर के प्रश्न में मेरा मौन कौतूहल भी जुड़ा हुआ था. लल्लूबाबू बोले, "आज सवेरे मैं काम से महुआपुर गया था. रास्ते में ही इंदु विलास प्रासाद पड़ता है, यह तो आप लोग जानते ही होंगे. करीब साढ़े दस-ग्यारह बजे जब मैं साइकिल पर लौट रहा था तो देखता क्या

हूं कि बहुत सारे संदूक, बिस्तर बाहर फेंके जा रहे थे. . .

"कहां?"

"और कहां, इंदुविलास महल के बाहर, सड़क पर."

"सामान किसका था?" मैंने पूछा.

लल्लूबाबू हंसे, सिगरेट की डिबिया की ओर हाथ बढ़ाते हुए कहा, "आपके भूतपूर्व जानी-जिगरी लौहपुरुष लाल रिपुदमन सिंह का. ऐसा लगता था कि पुलिस के सिपाही पलंगों पर बिछे बिस्तरे और कबड़ों में भरे कीमती कपड़े ऐसे के ऐसे लाकर बहार फेंकते जा रहे थे. और साहब, एक बात और मैं आपको बतलाऊं, हमारे भूतपूर्व मुख्यमंत्री एक काठ के बड़े संदूक पर बैठे सिगार पी रहे थे. उनकी रानी साहब, उनकी दो बहुएं बंगले में पहली बार घेरी गयी शेरनियों की तरह उनके पीछे वाले फुटपाथ पर तेजी से टहल रही थीं. (हंसकर) उनके रंग-बिरंगे कपड़ों में मुझे ऐसे लगा कि जैसे पीछे वाली बत्ती बुझती है और आगे वाली जलती है. अगल वाली बुझती है, बगल वाली जलती है. हः हः हः!"

लल्लू बाबू अच्छे किस्सा कहने वाले हैं. कौतूहल की एक-एक मंजिल पर वे किसी न किसी बहाने रुक जाया करते थे और हम पांच-छह जने उनके मुख से नाटक योग साधने लगते थे. राम-राम करके यह रहस्य खुला कि ओढ़री सरकार ने प्रादेशिक सरकार के भूतपूर्व कर्णधार और उनके परिवार को मय उनके समान, कोठी से बाहर निकलवा दिया.

"क्यों?"

"इसलिए कि इंदुविलास महल सदा सुहागिन कु. इंदिरा सिंह का है तथा लाल साहब और उनका परिवार उस जबरदस्ती अपना अधिकार जमाये हुए था. जैसा कि आम तौर से बड़े-बड़े प्रतापशालियों के पतन पर होता है." मित्र मंडली की व्यंग्य भरी फुलझड़ियों के साथ कमरा पटाखों की तरह कहकहों से गूंज उठा.

लेकिन मेरा मन भारी हो गया. रिपुदमन सन् पैंतीस में युनिवर्सिटी में मेरे सहपाठी हुए थे. सन् पैंतालिस तक मेरा और उनका एक जान और दो कालिब वाला साथ रहा. लाल साहब सरौठा इस्टेट के छोटे राजकुमार थे. मेरा उनका कुछ दूर का रिश्ता भी लगता था, मगर युनिवर्सिटी यूनियन की हलचलों में समान रूप से जोशीला भाग लेने के कारण हम दोनों एक दूसरे के बहुत पास आ गये थे. सन् बयालिस के आंदोलन में भी मेरा उनका साथ रहा. मैं तो शुरू में ही पकड़ लिया गया था मगर रिपुदमन ने अंग्रेज सरकार के छक्के छुड़ा दिये और सन् छियालिस में कांग्रेस की अंतरिम सरकार बनने से दो महीने पहले तक ऐसे फरार हुए कि परम प्रतापशाली ब्रिटिश सरकार अपनी सारी कोशिशों के बावजूद उनकी छाया तक न छू सकी. उनको इस प्रकार आरक्षित रखने में इंदिरा सिंह का बड़ा हाथ था.

मेरे जेल जाने के बाद रिपुदमन ने कुछ साथियों को लेकर एक पुलिस चौकी जला डाली. तभी से फरार हुआ. मैकू अहीर हमारे इस नगर से मिले हुए गांव अन्नपुर में रहता था. सत्रह-अट्ठारह वर्ष का नौजवान मैकू यद्यपि राजनीति में कभी सक्रिय नहीं रहा फिर भी मन से देशभक्त था. चौकी नसीबगंज जलाये जाने की घटना में वह भी संयोगवश जोश में आकर भागीदार बन गया था. वही युवक लाल रिपुदमन सिंह को अपने घर ले आया. मैकू के घर में उसकी अंधी मां और इक्कीस-बाइस वर्ष की विधवा भावज इंदरानी रहती थी. स्वयं मैकू कुछ महीने से अपनी ससुराल की जायदाद का मालिक होकर पड़ोस के गांव में रहने लगा था. इंदरानी का पति हरभजन साल भर पहले ही अपनी रिश्तेदारी में हुए लाठी कांड में मारा जा चुका था. तब से इंदरानी ही अपनी घर-गृहस्थी संभालती थी. वह शुरू से ही दबंग थी. अपने स्वर्गवासी पति की साइकिल पर दो भैंसों का पचीस-तीस सेर दूध कैनों में भरकर शहर के एक हलवाई के यहां नियमित रूप से पहुंचाया करती थी. क्या मजाल कि उस पर कोई फब्ती कस तो जाये. साइकिल पर चढ़ने की सुविधा के कारण जब उसने हिंदुस्तानी लहंगा-ओढ़नी छोड़कर चूड़ीदार पाजामा और कुर्ता पहनना आरंभ किया तो कुछ बड़े-बूढ़ों ने टेढ़ी-सीधी बातें कही थीं मगर इंदरानी ने ऐसे मुंहतोड़ जवाब दिये कि तब से कोई सहसा उसके मुंह लगने की हिम्मत न कर सका.

लालजू को छिपाने के लिए मैकू ने तो केवल जोश भर ही दिखलाया था मगर उसे निभाया इंदरानी ने ही. दिन भर काम ही करती रहती थी. दूध बेचकर आती, तीन प्राणियों का खाना बनाती, गाय-भैंसों के लिए लिए चारा काटती. एक चक्कर अपने देवर व देवरानी के यहां भी लगा आना उसका नित्य का नियम था. शहर से लौटकर वह कुर्ते-पाजामे के बजाय फिर से लहंगा-ओढ़नी की पोशाक पहन लेती थी. उसकी कुशाग्र बुद्धि, फुर्ती, कमेरेपन, तेजस्विता और सच्चरित्रता के कारण लालजू धीरे-धीरे उसके भक्त बन गये. शहर में अपने घरवालों से वे उसी के कारण अपना संपर्क साध सके थे. वही उनके लिए घर से किताबें, अखबार और रुपये लाया करती थी. सन् तैंतालिस के अंत में बीमारी के कारण जब मैं जेल से रिहा हुआ तो इंदरानी हमारे लालजू की इंदु और इंदिरा बन चली. रिपुदमन अपनी इंदु को पढ़ाने भी लगे. पढ़ने में वह तेज निकली.

सन् छियालिस में अंतरिम देशी सरकार बनी. लाल रिपुदमन सिंह पार्लियामेंटरी सेक्रेटरी बनाये गये. उनका दिन चमका और इंदरानी उर्फ इंदिरा उर्फ इंदु का गांव छूटा. रिपुदमन ने शहर में ही उसके लिए एक एक मकान किराये पर लिया, एक नौकरानी, एक मास्टरानी रखी और इंदिराजी पढ़ने लगीं. प्राइवेट हाई स्कूल किया, इंटरमीडियट किया, विशारद बनीं, फिर युनिवर्सिटी में भर्ती होकर बाकायदा बी. ए. भी पास कर लिया.

लाल रिपुदमन सिंह तब तक स्वायत्त शासन मंत्री बन चुके थे और मेरी-उनकी घनिष्ठता काफी हद तक घट चुकी थी. दरअसल अपने बढ़ते हुए प्रभाव के कारण लालजू के तेवर बदल चुके थे और उनके पुराने मित्रों में वही लोग उनके साथी रहे जो उनकी मुसाहिबी कर सकते थे. चूंकि मुझसे यह सब हो नहीं सकता था, इसलिए उनसे कट गया. राजनीति छोड़कर विश्वविद्यालय में प्राचीन इतिहास का व्याख्याता हो गया. इसके बाद पिछले तीस वर्षों में इंदु और लालजू से मेरी मुलाकातें केवल उंगलियों पर ही गिने जाने लायक हुईं. बी. ए. में मेरी शिष्या होने के कारण परीक्षा पास करने के बाद इंदु भौजी अंतिम बार मेरे यहां मिठाई लेकर आयी थी. इंदिराजी अब 'सिंह' भी हो गयी थीं, लेकिन इसके साथ ही साथ उनके नाम में कुमारीत्व भी जुड़ गया था. जो हो, आम जनता की जबान पर वे केवल 'ओढ़री सरकार' ही थीं. दुनिया जानती थी कि लौहपुरुष लालजू की जान 'ओढ़री सरकार' में ही बसती है. सन् इकहत्तर के चुनाव के बाद लालजू मुख्यमंत्री बने. उनका इंदुविलास महल तो तभी से बनने लगा था जबकि वे पी. डब्ल्यू. डी. के मंत्री थे, लेकिन उसकी सजावट और चमत्कारी ऐश्वर्य उसके मुख्यमंत्री निवास बन जाने के बाद ही बढ़ा. तभी से इंदु उर्फ 'ओढ़री सरकार' अलग बंगले में न रहकर आठों पहर लालजू के साथ ही रहने लगी थी. सुना कि रिपुदमन ने करोड़ों रुपयों की हैसियत बना ली थी.

ओढ़री सरकार भी लाखों से खेलने लगी थीं. उनके गांव अन्नपुर में उनके लिए एक बहुत बड़ा डेरी फार्म बनाया गया था. सरकारी न होते हुए भी सारी सरकारी सहूलियतें कामधेनु डेरी फार्म को मिली हुई थीं. शहर में कु. इंदिरा सिंह की अपनी मलकियत के दो बंगले भी थे लेकिन अभी तक मुझे यह नहीं मालूम था कि लालजू ने अपना यह इंदु विलास महल भी ओढ़री सरकार के लिए ही बनवाया था.

कुछ भी हो, पुराने घनिष्ठ मित्र के संबंध में यह बुरे समाचार सुनकर मेरे मन को बार-बार धक्के लगे. इंदरानी के प्रति मेरा आश्चर्य भी उसी अनुपात में बढ़ता रहा. इंदरानी तो लालजू के जीवन में ऐसी गाढ़ी घुली हुई थी कि मानो दूध में मक्खन गाढ़ा होकर घुला हो. सारे दिन सोचता रहा कि जाऊं या न जाऊं. फिर मन न माना, शाम तक दूरभाष के द्वारा मैंने यह पता लगा ही लिया कि लाल रिपुदमनसिंह

अपने साले, राजा गनेशबख्श सिंह की कोठी 'सनेहीपुर हाउस' में अकेले टिके हैं. उनकी पत्नी अपने पुत्रों और पुत्रवधुओं के साथ अपनी ससुराल की पुरानी कोठी में थीं. इस खबर से मैंने इतना तो जान लिया कि पत्नी और बेटों ने भी इस महान अपमान के कारण लालजू को त्याग दिया है. मेरे मन में लालजू से मिलने की उत्सुकता और भी बढ़ गयी. मैंने कार निकाली और 'सनेहीपुर हाउस' की ओर चल पड़ा.

पुराने हाहाहूती अहाते में सनेहीपुर हाउस अपने विगत वैभव की निशानी सा, लुटा-पिटा-सा खड़ा था. सनेहीपुर के राजा गनेशबख्श सिंह और उनका परिवार अब बंबई में रहता है. उन्होंने वहीं हवाई अड्डे के पास एक शानदार होटल खोल लिया है. अच्छी आमदनी है. अपनी सामंती शान के कारण अपने सनेहीपुर ग्राम के महल और राजधानी की इस कोठी में थोड़ा पैसा भी लगाते रहते हैं और देखभाल के लिए अब दो-एक नौकर-चाकर वहां रहते हैं. मैं जब पहुंचा तो भूतपूर्व मुख्यमंत्री लान में अकेले बैठे बीयर पी रहे थे. मुझे देखकर वे एकाएक चौंके, फिर लहककर उठे. उन्होंने मेरा स्वागत किया, "आओ जी रंजीत," कसकर कलेजे से चिपका लिया फिर बोले, "तुम्हें देखि कै हमको गुसाईंजी महाराज के चौपाई याद आय गयी. . . धीरज धर्म मित्र अरु नारी, आपत्ति काल परिखियै चारी. . . अरे कोई है?"

कोई होगा तो जरूर मगर आया नहीं. भूतपूर्व मुख्यमंत्री झेंपकर खुद ही कहते हुए बोले, "ठहरो, हमैं लाये देइति हैं. कुर्सी," बरामदे से वे एक कुर्सी उठाकर लाये. मैंने रास्ते में ही उसे ले लिया. व्यवस्थित होकर बैठने के बाद मैंने कहा, "यह सब क्या हो गया लालजू?" इंदु भौजी से मुझे तो ऐसी आशा कभी नहीं थी."

मुंह से गंदी गाली निकालते हुए वे बोले, "साली छोटी जात की स्त्री से और आशा ही क्या की जा सकती है. खैर बीयर पियोगे? मैंने दो बोतलें मंगायी थीं, एक पी डाली और एक अभी बची है. क्या करें यार! वह गालिब का शेर है न. . . निकलना खुल्द से आदम का सुनते आये थे लेकिन, बहुत बेआबरू होकर. . . "शेर अधूरा ही छूट गया. . . भद्दी गालियां मुंह से निकलने लगीं. बातों में क्रमशः यह कारण जाना कि कल शाम इंदरानी के मामा और उनके साथ कुछ और अहीर नेता आये थे. आरक्षण के मसले पर सरकारी हल्कों में चूंकि आजकल बहुत गर्मा-गर्मी है इसलिए वर्तमान मुख्यमंत्री ने विभिन्न जातियों के कुछ लोगों को मंत्रणा देने के लिए राजधानी बुलवाया था. वे कु. इंदिरा सिंह बी. ए., विशारद, एम. ए. से मिलने के लिए भी इंदु विलास में आये थे. सन् सतहत्तर के चुनाव में लालरिपुदमन सिंह और उनकी पार्टी की तो करारी हार हुई, मगर संयोग से कु. इंदिरा सिंह जीत गयीं. लाल रिपुदमन सिंह की मंत्रणा के कारण ही कु. इंदिरा सिंह इस प्रदेश के हरिजन मुख्यमंत्री तथा अन्य कुछ मंत्रियों से अपने संबंध बनाये हुए थीं. लेकिन जब वे लोग आये और आरक्षणी राजनीति की बातें चलीं तो लाल साहब का पारा एकाएक चढ़ गया. गरजकर बोले, "आप लोग मेरे घर में बैठकर ऊंची जातियों के विरुद्ध षड्यंत्र रचेंगे, यह मैं बर्दाश्त नहीं करूंगा. दूर चले जाइए मेरी आंखों के सामने से!". . . "सो बंधु, कल मैंने उन्हें निकाला तो आज उस हरामजादी ने मुझे और मेरे परिवार को अपने ही बनवाये महल से बाहर निकलवा दिया. मेरी बिल्ली मुझी से म्याऊं करने लगी है."

इसके साथ ही उन्होंने तथाकथित छोटी और दलित जातियों के लिए इतनी भद्दी-भद्दी गालियां देना आरंभ किया जिसकी मैं कल्पना नहीं कर सकता था. मैंने सोचा कि अबकी पराजय से भूतपूर्व मुख्मंत्री मन ही मन बौरा उठे हैं. उन गालियों भरे मन की धारा मोड़ने के लिए मैंने पूछा, "मगर क्या महल भी तुमने इंदु ही के नाम से बनवाया था?"

"नहीं, असल में रानी साहब और उनके लड़कों के उत्पात के कारण ही मैंने इस महल को उस (गाली) के नाम लिख दिया. दोनों कुंवर साले बार-बार कहते थे कि इसे हमारे नाम लिख दीजिए. एलेक्शन में हारने के बाद उनकी महतारी (गाली) ने मेरा नाता ही बंद कर रखा था. बहाने के तौर पर मैंने यह प्रॉपर्टी इंदु के नाम कर दी. मैं क्या जानता था कि हरामजादी मुझे ही अपनी जात का ओछापन दिखलायेगी. ऐसा विश्वासघात मेरे साथ कभी नहीं हुआ."

यों तो जातियों के ऊंच-नीचपन के बहुत से संस्कार अभी हम सबके मनों में पलते हैं, फिर भी अनेक प्रगतिशील विचारक इन बातों से मुंह मोड़ चुके हैं. खास तौर से राजनीति के क्षेत्र में लाल रिपुदमन सिंह जैसा घाघ पुरुष इस तरह से कहे तो कुछ-कुछ अजब भी लगता है और दुःख भी. मैंने कहा, "लालजू, जाति-वर्णविहीन समाज की कल्पना कभी हम दोनों ने मिलकर की थी. आज तुम इतने बदल क्यों गये हो?"

"मैंने नहीं, बदला है इन छोटी जातियों की सरकार ने. बैठे ठाले, ख्वामख्वाह यह आरक्षण का तमाशा खड़ा कर दिया है सालों ने. इज्जत ले रखी है हमारी. वह चाहते हैं कि सवर्ण साले माइनारिटी में आ जायें और ये लोग उन्हें धर के पीस दें."

सहसा मेरे दिमाग में बिजली-सी कौंध उठी, उलझन की भूल-भुलैया में भटकते-भटकते मन को राह मिली. मैंने शायद उस समय सोचने की भी आवश्यकता नहीं समझी और पूछ बैठा, "लालजू, चुनाव में अपनी हार और इंदु भौजी की जीत से कहीं तुम्हारे वर्षों के सिद्ध लौह-पुरुषत्व को ऐसी ठेस तो नहीं लगी कि तुमने बात-बात में छोटी जात कहकर भौजी को चिढ़ाया हो?"

राजनीति, कूटनीति से आकंठ भरा-भरा लालजू का वर्षों से सिद्ध लौहपुरुषत्व मेरी ओर पैनी, रौब भरी नजरों से देखने लगा. मैंने उसकी परवाह न की, बात में बात जोड़ी, "तुम अकेले ही इस तरह के अपराध के दोषी नहीं हो. सवर्णों के करीब-करीब सभी वर्गों में यह प्रभुसत्ता की भावना हजारों वर्षों से घर किये है. जाने-अनजाने हम इस गल्ती के शिकार होते हैं."

"तुम मेरे मित्र हो रंजीत, तुम्हारे इस सत्य कथन को मैं नहीं काटूंगा पर उस उल्लू की पट्ठी को इतने वर्षों तक मेरे साथ रहते हुए भी यह समझ क्यों न आयी कि मैं अपनी गहरी चिढ़ भी खुले मन से उसी के सामने प्रकट कर सकता हूं जिसे मैंने गहरे मन से प्यार किया है. जिस प्रॉपर्टी को मैं जीते जी अपने बेटों को भी नहीं देना चाहता था, उसे इंदु के नाम लिखकर मैंने उस पर कितना अथाह विश्वास प्रकट किया है. कोई किसी को भला इतना विश्वास दे सकता है! मैं उसे कभी क्षमा नहीं कर सकता, रंजीत. हरामजादी ने मेरी दौलत लूटने के लिए ही यह षड्यंत्र किया है. लेकिन वह भूल जाती है कि मैं बड़े-बड़े जहरीले नागों और नागिनों को अपने वश में करने का मंत्र जानता हूं."

मैं लाल रिपुदमन सिंह के साथ करीब-करीब घंटे-डेढ़ घंटे रहा मगर कोई समझदारी की बात उनके मुख से न सुनी. हां, यह रहस्य अवश्य हाथ लगा कि इंदु बिलास महल में उनका कोई गुप्त 'स्ट्रांगरूम' है जिसका पता किसी को भी नहीं है. इंदिरा सिंह तक को भी नहीं. और वह अपने स्ट्रांगरूम के लिए मन से दुर्बल हुए चले जा रहे हैं. उसके बिना वे पैसे-पैसे के लिए मोहताज हैं और एक बार वे किसी भी प्रकार इंदु बिलास महल में जाने के लिए बेताब हो रहे हैं.

लालजू ने सीधे-सीधे तो मुझसे एक बार भी न कहा, किंतु बातों में तरह-तरह से घुमाकर मुझसे यह अनुरोध किया कि मैं इंदु से मिलकर उसे समझाऊं कि वह सनेहीपुर हाउस आकर उन्हें मनाये और 'इंदु बिलास महल' में ले जाये. इस नेकी का बदला चुकाने के लिए लालजू इंदु को यह वचन देने के लिए तैयार भी थे कि भविष्य में वे अपनी ब्याहता

पत्नी और बेटों से कोई संबंध नहीं रखेंगे. अब भी नब्बे प्रतिशत वे सदा इंदिरा के साथ रहे हैं और भविष्य में वे शत-प्रतिशत उसके ही होकर रहेंगे.

सनेहीपुर हाउस से जब चला तो मेरा मन लालजू रूपी दर्पण में अपने आप को देखने लगा. मैं बहुत संयत हूं. मेरी कथनी और करनी में कम अंतर रहता है. फिर भी रहता तो है. अनजाने में अक्सर मेरा क्षात्रधर्मी स्वाभिमान दूसरों को छोटा समझने की स्थिति में आ जाता है. जातियों का छोटा-बड़ापन, उनके भेदाभेद, अभी तरह-तरह से हमारे सवर्ण मनों में पलते हैं. यह प्रभुता और दासता की हजारों वर्षों से जमी हुई जड़ें क्या आसानी से उखाड़ी जा सकती हैं?

पहले तो खास विचार नहीं था, लेकिन यह सब सोचते हुए फिर दवाओं की एक बड़ी दूकान देखकर मैंने अपनी गाड़ी रोक दी और दूकानदार की अनुमति लेकर मैंने 'इंदु विलास महल' में फोन मिलाया. आपरेटर द्वारा लाइन मिलाये जाने पर कु. इंदिरा सिंह ने मुझसे कहा, "भगवान जानता है रंजीत भैया, आज दिन भर में तीन-चार बार आपका ध्यान आ चुका है. जल्दी से आ जाइए. क्या घर से बोल रहे हैं. . . गाड़ी भेजूं?"

प्रेम, अंतरंगता और अधीरता भरी इस आवाज में मुझे न जाने क्यों यह आश्वासन मिला कि यह नारी बनावटी मन वाली नहीं है. स्वर में सहज स्वभाव बोलता है. 'ओढ़री सरकार' के प्रति मन में स्नेह छलछला उठा. ठाकुर हूं, रिश्तेदारों में और दूसरे ब्राह्मण-बनियों के जीवनों में बहुत सी रखैलों को देखा है. मेरे दादा के एक फुफेरे भाई थे, उन्हें छोटा-मोटा ताल्लुकेदार कहिए. जब मैंने उन्हें देखा था, तब काफी बुड्ढे हो चुके थे. मगर उन्होंने अपने महल से कुछ दूर हटकर एक बाग बनवा रखा था. अनेक असवर्ण और दलित जातियों की छोटी उम्र की कन्याओं से घिरे वे अधिकतर उसी बाग में रहा करते थे. बड़े हंसमुख, बड़ों में बड़े की तरह और छोटों में छोटे की तरह घुल-मिल जाते थे. वे उन कन्याओं को अपनी हिरनियां कहते थे. उन्हें खूब खिलाते-पिलाते थे और नितांत अविकसित आयु में ही उनकी चेतना में विलासरत नारीतत्व का भाव भर देते थे. उन छोटी-छोटी बच्चियों को हंसी-हंसी में यह बतलाने से भी नहीं चूकते थे कि उनकी नानी-दादियों के साथ हजारों बार यह खेल खेला था. गांवों में आमतौर से सदियों से छोटी जातियां बड़ी जातियों के पुरुषों की रखैलें बनने को बाध्य होती थीं. दासों की स्त्रियों पर स्वामी का अधिकार होता है. कहीं-कहीं राजा और पुरोहित वर्ग के लोग अपने प्रजाजनों की नयी ब्याहुली बहुओं के साथ सुहागरात मनाने का धार्मिक अधिकार भी रखते थे. तथाकथित छोटी जाति के मनों में बार-बार खुले आम हीनता-भावना को जगाना उसी बर्बर सामंती मानसिकता का जहरीला संस्कार है. जिसमें एक मनुष्य को स्वामी और दूसरे को दास बनने पर मजबूर कर दिया गया है. मानव सभ्यता कितनी परतों में सतत चढ़ती-उभरती हुई पानी की तरह बहती है. कहां जाकर मरेगा यह पानी?

'इंदु-विलास' पहुंच गया. पर्ची पर नाम लिखकर भिजवाया. कु. इंदिरा सिंह नंगे पांवों दौड़ती हुई बाहर आयीं. आंखें फटी-फटी, चेहरा पिटा-पिटा पर ईमान की तेजस्विता लिये हुए. मुझे देखते ही छोटी बच्ची-सी खिल पड़ीं. कहा, "आप न आते रंजीत भैया तो मैं आज-कल में खुद आपके पास आती. आज रह-रहकर मुझे आप ही की याद आयी है."

मैंने धीरे-से कहा, "और इतने वर्षों में कभी नहीं आयी?" इंदरानी की नजरें झुक गयीं. कहा, "दुख में सुमरिन सब करें. सुख में करे न कोय. . फिर मेरी आंखों में आंखें डालकर और उनमें शोखी लाने का प्रयत्न करती हुई इंदु भौजी बोलीं, "वैसे मैं तब भी याद करती थी. आपको उनके साथ भी याद किया है. आइए, अंदर चलें."

'इंदु विलास महल' सचमुच किसी राजा के महल जैसा लगता है. यह जिन दिनों यह बन रहा था और जितने वर्षों तक 'मुख्यमंत्री निवास' रहा, इस महल में, अखबारों और जनचर्चा में, लाल रिपुदमन सिंह की रिश्वतखोरी का बड़ा ढिंढोरा पिटा. लाल रिपुदमन सिंह की ठकुराई मानो अपनी रिश्वतखोरी को शतप्रतिशत ईमानदार मानकर जनचर्चा के जहर को हंस-हंसकर पी और पचा रही थी. "समय पाकर सभी करते हैं और मैं भी कर रहा हूं." यह अकड़भरी अदा किसी ब्राह्मण-ठाकुर में ही हो सकती है. मोटी-मोटी कालीनें, झाड़-फानूस और फर्नीचर तथा सजावट का समान देख-देखकर मेरी आंखें चौंधियाने लगीं. खुद से उस करोड़ों की धनराशी का ध्यान भी आया जो लोकप्रिय देशभक्त और जनसेवक लाल रिपुदमन सिंह ने इस लाखों के ऐश्वर्य में कहीं 'स्ट्रांग रूम' बनवाकर छिपा रखी है. भौजी मुझे अपने निजी कमरे में ले गयीं. गैलरी में खड़ी हुई एक नौकरानी से कहा, "जानती है, मेरे जेठजी-देवरजी हैं. खाना साथ ही खायेंगे."

'जेठजी-देवरजी' के सम्मिलित नाते की ईजाद पर हम हंसे, मैंने कहा, "लेकिन भौजी. . ."

"भौजी-वौजी कुछ नहीं; आपके घर में टेलीफोन है?"

"हां."

अपने कमरे के फोन से भौजी ने आपरेटर को आदेश दिया, डाक्टर रंजीत कुमार सिंह के घर पर टेलिफोन मिलाकर कह दो कि वे खाना यहीं खायेंगे. और लौटने में अगर कुछ देर हो जाये तो भाभी चिंता न करें." सोफे पर बैठकर कमरे में इधर-उधर नजरें दौड़ाने लगा. टेलिफोन रखकर इंदु भौजी बोलीं, "अपने मित्र के राज्यकाल में आप शायद यहां कभी नहीं आये."

"मेरी ऐसी हैसियत नहीं थी. तब लालजू मुख्यमंत्री थे और मैं एक साधारण प्रजाजन."

"और आज आप दोनों ही साधारण प्रजाजन हैं."

"लेकिन तुम और लालजू साधारण होकर भी असाधारण हो भौजी. मेरा बड़े से बड़ा अपराध भी काल-चक्र में नाचकर भुला दिया जायेगा. जबकि तुम लोगों की छोटी से छोटी बातें भी हवा के जर्रे-जर्रे में बिजली बनकर अब भी चमक सकती है."

भौजी चुप रहीं. मैंने भी जान-बूझकर बात को आगे बढ़ाना उचित न समझा. हमारे बीच उपस्थित होनेवाला कुछ क्षण का मौन शायद भौजी को बहुत बड़ा लगा. इसलिए ही शायद उनका ध्यान गया और पूछ बैठीं, "क्या? शर्बत, लस्सी या बीयर? खाने में अभी आधे-पौन घंटे की तो देर लगेगी ही."

"कुछ भी पिला दो भौजी, मुझे तो अपनी आतियेया का मान रखना है."

"मान-सम्मान बड़े लोगों का होता है भैया, मैं तो आपके मित्र की रखैल मात्र हूं. जनता की जबान पर 'ओढ़री सरकार'. . . एक बदनाम स्त्री."

"मैंने दोनों के नाते को इस तरह से कभी देखा नहीं भौजी. और जहां तक लालजू का प्रश्न है, मैं समझता हूं कि उन्होंने आपकी सदा पत्नी की तरह से ही चाहा और माना है. सारे अधिकार तो उन्होंने दे रखे हैं आपको."

"आप तो इतिहास के विद्वान हैं रंजीत भैया, जानते ही होंगे कि किसी बादशाह ने अपनी चहेती डोमिन के लिए एक महल भी बनवाया था."

"आप भी तो हैं एक महल की स्वामिनी."

"यह महल मेरा नहीं है."

"मगर मैंने तो सुना है कि लालजू ने यह महल आपके नाम लिख रखा था और आपने उन्हें और उनके परिवार को इस घर जबरदस्ती दखल जमाने के अपराध में ही. . ."

"निकाल दिया, है न? लेकिन पहली बात तो यह है कि मैंने उनकी पत्नी और बेटों के परिवारों को निकाला था, उन्हें नहीं. विश्वास न होने पर पुलिस में मेरी रिपोर्ट देख सकते हैं."

"मगर तुम्हारी ऐसी संयत और सावधान स्त्री को यह करना न चाहिए था कि जब कल के समाचार पत्र देखोगी तो. . ."

"मेरा क्या बिगड़ेगा? अरे जब उतर गयी लोई तो क्या करेगा कोई. बदनाम होंगे तो वह होंगे. . . . आज तो मैं यह कहने से कदापि नहीं चूकूंगी कि हरिजनों और असवर्णों के सुख्यात हितचिंतक माननीय भूतपूर्व मुख्यमंत्री जी में जातिवाद का कितना विष भरा है."

"सुनो भौजी, इस समय तुम आवेश में हो."

"यह आवेश एक दिन का नहीं है. अपनी हार के बाद इन्होंने न जाने कितनी बार मेरी छोटी जात को कोसा है. कल खुले आम चार लोगों के बीच इन्होंने मेरे बूढ़े मामाजी का अपमान कर दिया. यह ठकुराई की ठसक अब न सहूंगी मैं. अहीर हूं मैं भी. गऊमाता की सेवा करना छोटा और अपवित्र काम नहीं है. मेरी बिरादरी की वजह से ही उनकी जमानत जब्त नहीं हुई, वरना लौहपुरुष जी की नाक पूरी ही कट जाती."

मैंने समझाने की कोशिश की कि क्रोध में बात को अब और अधिक न बढ़ाएं. आप दोनों अब भी शक्तिशाली हैं. आप दोनों की सूझ-बूझ से जातिवाद की बढ़ती हुई विषम राजनीति को सुलझाया जा सकता है. मैंने यह भी कहा कि लालजू सनेहीपुर हाउस में हैं. न उनके खाने का ठिकाना है न पीने का. मैंने बतलाया कि लालजू से मिलकर आ रहा हूं. उनकी पत्नी व बेटों ने भी उन्हें बेसहारा छोड़ दिया है.

"तो मैं क्या करूं."

"उन्हें जाकर मना लाओ भौजी. अकेलेपन की घुटन में अगर कुछ ऊंच-नीच कर बैठे लालजू, तो तुम जनम भर पछताओगी."

भौजी चुप! कुछ देर बाद छलछलायी आंखों से मुझे देखकर बोलीं, "इंदु विलास महल उनका है. आपको खाना खिलाने के बाद मैं यहां से सीधे अन्नूपुर चली जाऊंगी आज की रात डेरी फार्म में गुजारूंगी, लेकिन कल से अपनी अपनी झोपड़ी का प्रबंध कर लूंगी. मेरा क्या, अहीर की बेटी हूं, गोधन ही मेरा असली धन है, मुझे किसी का कुछ भी नहीं चाहिए."

स्वाभिमानी नारी की बात ने मुझे छुआ.

मैंने कहा, "क्या यह संभव नहीं कि सदा की तरह तुम दोनों साथ-साथ रहो?"

"नहीं रंजीत भैया, यह तभी संभव होगा, जब वे मुझसे मेरे अपमान के लिए क्षमा मांगेंगे."

बाद में लालजू से मिला था, लेकिन लालजू भी इस बात पर अड़े हुए हैं कि जब वह मुझे लेने आयेगी, तभी जाऊंगा. दोनों के बीच सामंती स्वाभिमान की तलवारें तनी हुई हैं, और लक्ष्मी फिलहाल निकम्मी होकर धरती में ही गड़ी पड़ी है. □

ओढ़री सरकार निश्चय ही एक सफल कहानी है

—जैनेंद्र कुमार

मेरे लिए बहुत नया काम है यह. कहानी को जानना और उस पर रायजनी करना.

कहानियों को मैं पढ़ता रहा हूं रस के नाते. उसका अंजर-पंजर तोड़कर, खट्टा-मीठा जो भी उसका स्वाद हो, अंदर उस स्वादिष्टता का स्थान कहां है, स्रोत क्या है, आदि जानने की चेष्टा मेरे लिए कभी आवश्यक नहीं रही. न अब वह अर्थसंगत जान पड़ती है. कहानी एक जीती-जागती रचना है. व्यवच्छेदपूर्वक उनके अवयवों को अलग-थलग बनाकर फिर जांच-परख करना और मूल्य आंकना मेरे अपने लिए कभी संभव नहीं हुआ. हो सकता है वो काम किसी दृष्टि से आवश्यक और उपयोगी भी हो. फिर भी वो मेरे स्वधर्म में नहीं है. ये मैं अच्छी तरह जानता हूं. और परधर्म भयावह होता है.

पर मुद्गलजी का आदेश है और वो मेरे लिए चुनौती बन गया है. इसलिए जो काम मुझसे कभी नहीं हुआ, वो करना पड़ रहा है.

कहानी निश्चय ही सफल कहानी है. प्रमाण, पढ़ना शुरू करके अंत तक मैं उसके साथ बराबर बंधा रहता गया. सस्पेंस कहीं ढीला नहीं हुआ. यह तनाव पहली शर्त है सफलता की.

मैं चाहता हूं कि कह सकता कि कहानी अत्यंत सफल है. 'अत्यंत' विशेषण फिर उसकी अर्थवत्ता और उस अर्थ की व्यापकता पर निर्भर करता है.

कथा तीन स्तरों पर चलती है. लाल रिपुदमन जागीरदार, यानी ऊंची जात के हैं. देश की स्वतंत्रता की लड़ाई के जमाने में कानून के पंजे से बचकर वो शरण लेते हैं जहां, वो घर अहीर जाति के एक मंकू का है. फिर वह रिपुदमन कांग्रेस की बहाली पर क्रमशः पार्लियामेंट्री सेक्रेटरी और चीफ मिनिस्टर बनते हैं. मुख्यमंत्री के पद से खूब पैसा जोड़ते और नया ठाठदार इंदु विलास महल बनाते हैं. वहां स्ट्रांग रूम है और काला पैसा. किसी को पता नहीं है उस तलघर का और वहां बंद अकूत धन का. यह व्यंग्य है राजनीति की दशा पर. इसमें कदाचित ये भी शामिल किया जा सकता है कि उनके मुख्यमंत्री बनने की नौबत आयी ही इस आधार पर है कि वो खानदानी जागीरदार थे. . . व्यंग्य ये भी है कि मुख्यमंत्रित्वकाल में लालजू अपने सहपाठी और परमसखा, जो कि स्वयं कथालेखक हैं, उनको आसानी से भूले रहते हैं.

राजनीति से उतरकर उनके व्यंग्य का केंद्र है जातिवाद. जिस मंकू अहीर के घर में एप्सकौंडर की हैसियत से शरण पाते हैं, वहां उसकी अंधी मां थी और इक्कीस-बाइस वर्ष की विधवा भावज इंदरानी. इंदरानी आगे इंदिरा सिंह बन जाती है और विधवा से कुमारी भी हो जाती है. बाद में जो हो, शुरू में उसे खूब कर्तव्यशील दिखाया गया है. उसका पति एक लाठीकांड में मारा जा चुका है और देवर ससुराल की जायदाद का मालिक होकर उसकी सार संभाल में पड़ोस के गांव में रहने लगा है. तबसे इंदरानी ही सारी घर-गृहस्थी संभालती थी. वह. . ."दबंग थी. . . अपने स्वर्गवासी पति की साइकिल पर दो भैंसों का पच्चीस-तीस किलो दूध कैनों में भरकर शहर के एक हलवाई के यहां निश्चित रूप से पहुंचाया करती थी. क्या मजाल कि उस पर कोई फब्ती कस तो जाये. साइकिल पर चढ़ने की सुविधा के कारण जब उसने. . . चूड़ीदार पाजामा और कुर्ता पहनना आरंभ किया तो कुछ बड़े-बूढ़ों ने टेढ़ी-सीधी बातें कही थीं, मगर इंदरानी ने ऐसे मुंहतोड़ जवाब दिये कि तब से कोई सहसा उसके मुंह लगने की हिम्मत न कर सका. . .लालजू को छुपाने के लिए मंकू ने तो जोश भर दिखलाया था, मगर निभाया इंदरानी ने. . .दिन भर काम करती रहती, दूध बेचकर आती. . . खाना बनाती. गाय-भैंसों के लिए चारा काटती. . . एक चक्कर अपने देवर-देवरानी के यहां भी लगा आना उसका नित्य का नियम था. शहर से लौटकर कुर्ते-पाजामे के बजाय फिर से लहंगा-ओढ़नी की पोशाक पहन लेती, उसकी कुशाग्र बुद्धि, फुर्ती, कमेरेपन, तेजस्विता और सच्चरित्रता के कारण लालजू धीरे-धीरे उसके भक्त बन गये." . . . धीरे-धीरे इंद्राणी इंदिरा, इंदिरासिंह और इंदु होने की प्रक्रिया में लालजू की ही बन गयी.

महत्वाकांक्षी युवक लाल रिपुदमन, सीढ़ी चढ़ते-चढ़ते मुख्यमंत्री बने और लौहपुरुष कहलाये तो उनके लोहे की धार प्रियतमा कुमारी इंदिरा सिंह थी. उनके लिए ओढ़री सरकार का विरुद चल पड़ा था. 'सरकार'

तो आदर और आतंक सूचक है किंतु 'ओढ़री' में व्यंग्य भरा था. कहने की आवश्यकता नहीं कि तब तक वो अहीरन पढ़-लिखकर बाकायदा मुख्यमंत्री के योग्य मैडम बन चुकी थी. ग्रेजुएट के ऊपर एम. ए. और. . .

कथा लेखक लालजू के सहपाठी थे ही, यूनिवर्सिटी में इंदरानी के बी. ए. के गुरु भी रह चुके थे.

कथा आरंभ होती है एक घटना से. लेखक चर्चा सुनते हैं और मालूम होता है कि लालजू को मय परिवार और मय सब सामान-असबाब के इंदुविलास पैलेस से निकाल बाहर किया गया है. सुनकर लेखक मौके पर पहुंचते हैं तो देखते हैं कि पूर्व मुख्यमंत्री सड़क पर हैं और उनके मुंह से मद्दी से मद्दी गालियां निकल रही हैं, ओढ़री सरकार यानी प्रेयसी कुमारी इंदिरा सिंह के लिए. कारण, चुनाव में वो हार गये हैं और इंदिरा सिंह जीत गयी हैं. पासा उलट गया है और इंदरानी दांव चलाकर महल से उन्हें निकलवा देती हैं. मुख्यमंत्री तो कभी थे. अब दबदबा सब गायब है. और वो सब देखते और भुगतते रह जाते हैं.

शरण लेते हैं सनेहीपुर हाउस में जो उनके साले राजा गनेशबख्श सिंह की पुरानी कोठी है. पत्नी, पुत्र, पुत्रवधू सब अपने ससुराल की पुरानी पैतृक कोठी में पहुंच जाते हैं. रह जाते हैं लालजू अकेले. इस घोर अपमान में से गुजरकर उस सब परिवार ने उन्हें त्याग दिया है. पार्लियामेंट्री सेक्रेटरी और क्रमशः मंत्री, मुख्य मंत्री की स्थिति में वो स्वयं इंदु विलास पैलेस में अपनी इंदु—इंदिरा के साथ रहते रहे थे और परिवार को एक तरह किनारे कर दिया था. पतली हालत में परिवार को साथ लिया लेकिन इस दुर्दशा में उन सब-ने स्वयं किनारा काट लिया. सनेहीपुर हाउस में लेखक की फिर भेंट होती है. वो चाहते हैं कि एक बार लेखक मित्र रंजीत सनेहीपुर हाउस आने के लिए इंदु को मना लें और वो उन्हें इंदु विलास महल ले जायें. इस नेकी का बदला चुकाने के लिए रिपुदमन इंदु को ये वचन देने के लिए भी तैयार हैं कि भविष्य में वे अपनी ब्याहता पत्नी और बच्चों से कोई संबंध नहीं रखेंगे, शत-प्रतिशत उसके ही होकर रहेंगे.

हुआ क्या था . . . "लाल रिपुदमन सिंह की मंत्रणा के कारण ही कुमारी इंदिरा सिंह प्रदेश के हरिजन मुख्यमंत्री तथा अन्य कुछ मंत्रियों से अपने संबंध बनाये हुए थीं. नये चुनाव में वे आये और आरक्षणी राजनीति की बातें चलीं तो लाल साहब का पारा चढ़ा. गरज के बोले, 'आप लोग मेरे घर में बैठकर ऊंची जातियों के विरुद्ध षड्यंत्र रचेंगे, ये मैं बर्दाश्त नहीं करूंगा. दूर चले जाइए मेरी आंखों के सामने से . . .' तो बंधु, कल मैंने उन्हें निकाला तो आज उस हरामजादी ने मुझे और मेरे परिवार को अपने ही बनवाये महल से बाहर कर दिया. मेरी बिल्ली मुझी से म्याऊं करने लगी."

महल से निकले तो बेहाल थे. धन सब छट गया था पैलेस के स्ट्रांगरूम में. पास कुछ नहीं था. पर ऐंठ कायम थी पैलेस जायें तो कैसे? जा सकते हैं तभी न जब साली इंदिरा बुलाने आये. इस काम पर मित्र रंजीत को लगाया गया. पैलेस में इंदिरा मिली. उसके मन में खेद नहीं था. ये जरूर उसने कहा कि मैंने परिवार के लोगों को ही निकालना चाहा था, उनको खुद उनको तो नहीं . . . ठीक है कि लालजू ने उन्हें बनाया, बढ़ाया, पर आखिर रखा तो रखैल के तौर पर. सब कुछ होने पर भी इस अपमान पर उसे अंदर ही अंदर जलन थी. मौका आया तो उसने बदला ले लिया...

और यहां शायद कहानी का क्लाइमेक्स आता है. रिपुदमन को मान-अभिमान, गर्व-गौरव हो सकता है अपनी ऊंची जाति का. इसे परंपरा से प्राप्त अहंभाव कहा जा सकता है लेकिन उत्तर में उसके फन उठाकर जग पड़ी है प्रतिक्रियागत अस्मिता. तो वो भी अहीर की बेटी है. कड़वे व्यंग्य में सिर उठाकर कहती है, "मान-सम्मान बड़े लोगों का होता है भैया. मैं तो आपके मित्र की रखैल मात्र हूं. जनता की जबान पर 'ओढ़री सरकार'. . . एक बदनाम स्त्री. . ."

मित्र (कथा लेखक) रंजीत कहते हैं. "मैंने आप दोनों के नाते को इस तरह कभी नहीं देखा भौजी. और जहां तक लालजू का प्रश्न है, मैं समझता हूं कि उन्होंने आपको सदा पत्नी की तरह ही चाहा और माना है. सारे अधिकार तो उन्होंने दे रखे हैं आपको."

इंदिरा उत्तर देती है, "आप तो इतिहास के विद्वान हैं, रंजीत भैया. जानते ही होंगे कि किसी बादशाह ने अपनी चहेती लौंडी के लिए एक महल भी बनवाया था.'

'आप भी तो हैं एक महल की स्वामी.'

'ये महल मेरा नहीं है.'

'मगर. . . लालजू ने यह महल आपके नाम लिख रखा है. और आपने उन्हें और उनके परिवार को इस पर जबर्दस्ती दखल देने के अपराध में ही'. . . 'निकाल दिया है न'. . . 'लेकिन तुम-सी स्त्री को ये करना न चाहिए था. . .'

'. . . मेरा क्या बिगड़ेगा. जब उतर गयी लोई तो क्या करेगा कोई. . . आज तो मैं ये कहने से कदापि नहीं चूकूंगी कि हरिजनों और असवर्णों के सुख्यात हितचिंतक माननीय मुख्य-मंत्री जी में जातिवाद का कितना विष भरा है.'

'. . . इस समय तुम आवेश में हो.'

'ये आवेश एक दिन का नहीं. . . अपनी हार के बाद न जाने कितनी बार इन्होंने मेरी छोटी जात को कोसा है. कल खुलेआम चार लोगों के बीच इन्होंने मेरे मामा जी का अपमान किया. ये ठकुराई की ठसक अब मैं सहूंगी नहीं. अहीर हूं मैं भी. गऊ माता की सेवा करना छोटा काम नहीं है. मेरी बिरादरी की वजह से ही इनकी जमानत जब्त नहीं हुई. वरना लौहपुरुष जी की नाक पूरी ही कट जाती!"

लेखक लिखते हैं,"मैंने समझाने की कोशिश की कि क्रोध में बात को और अधिक न बढ़ायें. आप दोनों अब भी शक्तिशाली हैं. दोनों की सूझ-बूझ से जात-पांत की बढ़ती हुई विषम राजनीति को सुलझाया जा सकता है. . . लालजू सनेहीपुर हाउस में हैं. . . न उनके खाने का ठिकाना है न पीने का. . . उनकी पत्नी व बेटों ने भी उन्हें बेसहारा छोड़ दिया है. . .'

'तो हमें क्या?'

'उन्हें जाकर मना लाओ भाभी. अकेलेपन की घुटन में कुछ कर बैठे लालजू तो तुम जनम भर पछताओगी."

छलछलायी आंखों से लेखक (रंजीत) को देखकर इंदिरा ने कहा,"इंदु विलास महल उनका है. . . यहां से मैं सीधे अन्नूपुर चली जाऊंगी. . . रात डेरी फार्म में गुजारूंगी. कल से अपनी झोंपड़ी का प्रबंध कर लूंगी. मेरा क्या, अहीर की बेटी हूं. गोधन मेरा असली धन है मुझे किसी का कुछ नहीं चाहिए."

लेखक बंधु ने कहा, "क्या यह संभव नहीं कि सदा की तरह तुम दोनों साथ-साथ रहो.'

'ये. . . तभी संभव होगा जब वो मुझसे मेरे अपमान के लिए क्षमा मांगें.'

ये कथा का ढांचा है. उसे जिस कलेवर से लेखक की कल्पना और दक्षता ने मंडित किया है और इस प्रकार उसे जो अद्भुत कमनीयता प्रदान की है वो तो कथा को पढ़कर ही जाना जा सकता है. इस बुनावट में अनेक प्रकार के और वर्ण के तार बड़ी कुशलता से गुंफित किये गये हैं. प्रभाव गहरा, मनमोहक हो गया है. कथा में व्यक्ति, जाति और राजनीति इन तीनों पटलों के अंतर्संबंधों और अंतर्विग्रहों के साथ भरपूर न्याय हुआ है.

तमाम रचना को श्री अमृतलाल नागर के अंतिम पैरे ने मानो और भी ऊंचा चढ़ा दिया है लिखते हैं :

"बाद में मैं लालजू से भी मिला था, लेकिन लालजू भी इस बात पर अड़े हुए हैं कि जब वह मुझे लेने आयेगी, तभी जाऊंगा. दोनों के बीच सामंती स्वाभिमान की तलवारें तनी हुई हैं और लक्ष्मी फिलहाल निकम्मी होकर धरती में ही गड़ी पड़ी है."

और अनुच्छेद का 'लक्ष्मी' वाला अंतिम वाक्य कथा के आशय को, सार को काफी ऊंचा और काफी गहराई का एक व्यापक आयाम दे देता है. □

अमृतलाल नागर प्रियजनों की नजर में : दो

नागरजी और लेखक : मैत्री के शुरुआती दिन.

जीवन के स्वप्न की साधना

• ज्ञानचंद जैन

नागरजी ने अपनी नयी पुस्तक 'करवट' ज्ञानजी को भेंट करते हुए लिखा है—"जिनके साथ मित्रता के साठ वर्ष पूरे हो चुके हैं." ज्ञानजी नागरजी के अभिन्न मित्र ही नहीं; किशोर अमृतलाल नागर के कथा-सम्राट अमृतलाल नागर बनने तक की उनकी कथा—यात्रा के साक्षी भी वे ही हैं. . . . और नागरजी को उनके तमाम अंतर्द्वंद्वों, महत्वाकांक्षाओं . . . के साथ जानने का एकमात्र जरिया हैं ज्ञानजी के संस्मरण और समय-समय पर नागरजी द्वारा लिखे ये पत्र जो ज्ञानजी की निजी-संपत्ति होकर भी साहित्य की अमूल्य धरोहर हैं—

पंडित अमृतलाल नागर के संबंध में कुछ लिखने में मुझे उतना ही संकोच होता है जितना अपने संबंध में कुछ कहने में. उनसे मेरी मित्रता तब हुई जब हम दोनों स्थानीय कालीचरण स्कूल में पांचवें दर्जे में पढ़ते थे. इस जुलाई में हमारी मैत्री 60 साल पुरानी हो चुकी है. पढ़ने के शौक ने पहले-पहल हम दोनों का मन एक डोर में बांधा, फिर लेखक बनने के सपने ने. उनके लेखकीय व्यक्तित्व से मेरा तादात्म्य स्थापित हो जाने से ही हम दोनों अभिन्न मित्र बने. वे जब भी कुछ लिखते हैं पहले मुझे सुनाते हैं. मैं भी उनके सर्जनात्मक लेखन में अपने ही व्यक्तित्व के एक भाग में तृप्ति अनुभव करता हूं.

उन्होंने अपने ड्राइंग रूम में, जो उनका अध्ययन कक्ष और लेखन कक्ष भी है, तख्त पर अपने बैठने के स्थान के बिल्कुल समीप छत्रपति शिवाजी के गुरु समर्थ स्वामी रामदास का एक उद्बोधन वाक्य दफ्ती पर मढ़कर टांग रखा है :

वह्नि तो चेतवावा रे चेतवीतांच चेततो,
केल्या न होत आहेरे आधी केलेंच पाहिजे.

—वह्नि (अग्नि) तो चेताओ रे. (वह) चेताते-चेताते ही चेतती है. करने से होता है रे. पहले करना ही चाहिए.

इस उद्बोधन वाक्य में उनकी साहित्य साधना का मर्म छिपा है. आज उनकी साहित्यिक सफलता का प्रभामंडल तो सब की आंखों के सामने है, किंतु साहित्य साधना की आग को चेताने, जीवन-संघर्ष के प्रतिकूल झोंकों में उसे सतत चेताते रहने तथा 'करने से होता है रे, पहले करना ही चाहिए' मंत्र को गांठ में बांधे रहने से उन्हें कितनी मार खानी पड़ी है, कितना जूझना पड़ा है, इसका साक्षी उनके साहित्यिक जीवन के मित्रों में शायद सबसे अधिक मैं रहा हूं.

12-13 वर्ष की अवस्था में उनकी पहली तुकबंदी फूटी. 17 वर्ष की अवस्था से छापे के हरूफों में नाम आने लगा. 19 वर्ष की अवस्था में पहला वज्रपात हुआ—पिता की अचानक असामयिक मृत्यु. गृहस्थी का भार सांसारिक अनुभवों से शून्य कंधों पर आ पड़ा. लखनऊ में जमने के अनेक प्रयास विफल होने पर बंबई गये. फिल्मी संवाद और सिनेरियो लेखक बने. किंतु अग्नि को बराबर चेताते रहे. और जब वह चेत उठी तो हृदय-मंथन शुरू हुआ.

सेरा विला, शिवाजी पार्क, दादर, बंबई से अपने 22.9.42 के पत्र में उन्होंने मुझे लिखा:

आज आठ महीने हो गये, ज्ञान, सब मिला-कर 25-30 रातों से अधिक भर नींद सो नहीं सका. मशीन बन गया हूं. पैसा कमाता हूं, लेकिन अब तक एक पैसा भी जमा नहीं कर सका. बंबई का खर्च, लखनऊ का खर्च-सोचता हूं. जब तक शरीर चलता है तब तक भाग्य-चक्र मेरे अनुकूल चलता है. मेरी गृहस्थी की गाड़ी भी अच्छी तरह चली जा रही है, परंतु भविष्य के लिए क्या होगा? मुझे हर दम यही चिंता लगी रहती है. कोई ऐयाशी और फिजूलखर्ची भी नहीं. पिछले जमाने ने गहरा घाव किया था. आज ईश्वर की दया से इस योग्य हो सका हूं कि कमर सीधी करके चलूं. ज्ञान, पूरी गृहस्थी है मेरी. भाईयों की तरफ भी ध्यान जाता है, बच्चों की तरफ भी ध्यान जाता है. दोनों के लिए मेरे कुछ अपने कर्त्तव्य हैं जो पूरे करने ही चाहिए. बचपन के संस्कारों ने मेरे दिमाग में यह पूरी तरह से जमा दिया है कि रुपये के बगैर दुनिया नहीं चल सकती. इसी भावना ने मुझे व्यावहारिक बना दिया है—अपने कलाकार की आवाज को बराबर अनसुनी करता जाता हूं. मैं अपने आपको धोखा देता चला आया हूं. फूल्स पैराडाइज (मूर्खों के स्वर्ग) की कल्पना मुझे नहीं मेरे कलाकार को शिथिल बनाये देती है. अक्सर यह सोचता हूं—क्या मेरा स्वप्न पूरा हुआ? और मेरे सपने की वह सुनहरी दुनिया जानते हो क्या है? जब मरूं तो संसार अमर कला-कार कहकर मेरे नाम को प्रतिष्ठा दे. महत्वा-कांक्षा बुरी चीज नहीं. मेरा अपना अनुभव है कि महत्वाकांक्षी ही उत्साही एवं आशावादी हो सकता है. मैं अब तक जितना कुछ भी बढ़ा हूं अपनी महत्वाकांक्षा के बल पर ही. लेकिन साथ ही साथ मेरा पूंजीवादी मन भी तो महत्वाकांक्षी है. वह बहुत कोमल है, मखमल के गद्दों की कल्पना करता है, मोटर कार की कल्पना करता है, आठ नौकर हों, आलीशान कोठी हो, बड़ी इज्जत हो–इस तरह मैं अपने पूरे परिवार के साथ रहूं. मेरा कलाकार युग के साथ है, वह भी महत्वाकांक्षी है. कलाकार मानवजाति के लिए कल्याणकारी साहित्य की सर्जना करना चाहता है. कलाकार अपने देश के उत्थान के लिए कुछ करना चाहता है. कलाकार भिखमंगों के जीवन के विषय में सोचता है, देखता है—मजदूर, किसान, गरीबी, घटनाओं से भरे हुए अनुभवपूर्ण जीवन की कामना करता है. मेरे अपने ही व्यक्तित्व के दो रूप–एक इस्पात का बना है, दूसरा फूल का. 'मैं' दोनों में ही हूं. मैं चाहता हूं कि सबसे पहले मैं कलाकार को ही अपने जीवन में सर्वोच्च स्थान दूं, लेकिन मेरा दुनियादार मन, जो कि प्रतिष्ठा का भूखा है, चाहता है कि मैं अमर कलाकार तो बनूं साथ-ही-साथ मेरे मखमली गद्दे, कोठी और मोटरकार भी बनी रहे. दुख तो इसी बात का है, ज्ञान, कि फूल के वजन से इस्पात लचक जाता है.

और फिर, आत्म-विश्लेषण आरंभ होता है. अपनी चारित्रिक कमजोरियों की तरफ ध्यान जाता है. मन अपनी अच्छाइयों को भी देखता है और अपनी बुराइयों को भी. अपने दुरंगे जीवन पर ग्लानि होती है.

धीरे-धीरे परिवर्तन आता है. अपने 12.9.43 के पत्र में नागरजी लिखते हैं :

पैसा बड़ी चीज है, बेशक, मैं आज भी मानता हूं. लेकिन मेरे मन में अब थोड़ा-सा परिवर्तन हो गया है. पैसा ही सब कुछ नहीं है. पैसा ही

वह चीज है शान, जो बाबूजी के स्वर्गवास के बाद से मेरे जीवन की प्रधान आकांक्षा रही है. मैं अपने हर स्वप्न को पैसे के बगैर पूरा ही नहीं कर पाता. मेरी बहुत-सी स्कीमें अंत में एक ही गड्ढे में आकर गिर जाती हैं—पैसा.

तुम देख रहे हो कि पैसा मेरी काल्पनिक दुनिया में कब से राजा बना बैठा है, लेकिन मेरी स्वाभिमानी स्पिरिट ने मुझे पैसे से हार नहीं मानने दी. . .

अब उन्हें यह अनुभव होने लगता है कि पैसे से सब चीजें नहीं, अधिक से अधिक 99 प्रतिशत चीजें ही खरीदी जा सकती हैं. पैसे से भी बड़ी चीज है इंसानियत.

मन सत्य को छूने और असत्य के घेरे को तोड़ने की एक नयी शक्ति अपने अंदर अनुभव करने लगता है. अपने 30.11.44 के पत्र में उन्होंने मुझे लिखा :

संकल्प-विकल्प में ही इतना जीवन निकल गया. देखा, हाथ कुछ भी नहीं आया. प्रश्न उठता है क्यों? इस क्यों में ही मेरे जीवन के उन्नीस वर्षों का इतिहास है जो तुमसे छिपा नहीं.

जीवन को धोखा देकर आनंद प्राप्त नहीं हो सकता.

. . . जीवन को यथाबुद्धि, यथाशक्ति और यथासंभव सरल बनाकर अपनी कमजोरियों पर विजय प्राप्त करने का ही संकल्प इस बार किया है. बस, यही मेरे जीवन का अंतिम स्वरूप है. यदि इसे पा गया तो जी गया, वरना अब तो कफस में आ ही गया हूं, पंख फटफटाकर मृत्यु में शांति पाऊंगा.

मन मेरा अब भी अस्वस्थ होता है, पर अब एक अंतर आ गया है. पहले अपनी कमजोरियों को शक्तिशाली मानकर अपनी पराजय में छटपटाता था. अब अपनी आत्मा को शक्तिशाली मानकर सत्य के प्रयोगों में जहां कहीं कमी अखरती है, उस पर गुस्सा आता है. बहुत लड़ता हूं. कभी-कभी यह लड़ाई थका डालती है. लेकिन अब मैदान छोड़कर भी जाने का चारा नहीं. हिम्मत हारने पर मृत्यु है, जो अभी नहीं चाहता. मृत्यु के भय पर विजय प्राप्त कर मैं शरीर छोड़ने में भी जीवन का आनंद पाना चाहता हूं.

लड़ने के लिए प्रेरणा गीता के कर्मयोग से ले रहा हूं.

मैंने गांधीजी के पद चिन्हों का अनुसरण करना ही अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया है—या कर्म द्वारा सत्य के दर्शन अथवा पराजय भरी मृत्यु. देखना है क्या पाता हूं.

कबीर ने भी अनुभव किया था :

जूझेंगे तब कहेंगे अब हीं कहा न जाय.
क्या जानैं मन मसखरा लरैं किधौं भगि जाय.

मसखरा मन जूझ तो पड़ा है आगे देखना है बस असत्य के संघर्ष से, सत्य का पक्ष लेकर मन से युद्ध करने में अधिक आनंद है—अब तक यही जाना है. इससे विमुख हुआ तो मुझ-सा मूर्ख कोई नहीं. जिस दिन मुझे अपनी मूर्खता पर विश्वास हो जायेगा उसी दिन मेरी मृत्यु भी निश्चित है. बीच का जीवन त्रिशंकु के समान अब नहीं बिताऊंगा. अपने से पराजित होनेवाले के लिए मुंह छिपाने की कहीं ठौर नहीं. देखना है.

पिछले डेढ़ वर्ष से जीवन में परिवर्तन लाने की आंतरिक प्रेरणा पा रहा था. अब उसे स्वरूप मिल रहा है. भविष्य ईश्वर के हाथ में है.

अपने संपूर्ण मानसिक, वाचिक और कायिक कार्यों का ईश्वर में समर्पण—यही मेरा युद्ध क्षेत्र है. काया और वचन पर भी अंकुश बैठ जाता है (अभी पूरी तरह नहीं) परंतु मन अभी हाथ में नहीं आया. देखना है.

मेरी महत्वाकांक्षा का यह अंतिम स्वप्न है शान. टूटा तो मैं टूटा, बचा तो मैं 'मैं' को पाऊंगा ही.

और इस 'मैं' को पाने के लिए ही नागर जी के मन में शुद्ध साहित्यिक जीवन का स्वप्न यथार्थ में बदलने का संकल्प 1945 से जगा. अब दो नावों पर चलना मन को स्वीकार नहीं हो पाता. सितंबर, 1945 के पत्र में उन्होंने मुझे लिखा :

साहित्यिक जीवन का स्वप्न यथार्थ में बदलना चाहता हूं. और जब यथार्थ शब्द दिमाग में आता है तो उसकी सारी उलझनें और समस्याएं नजरों के सामने आती हैं. एक बात और स्पष्ट कर दूं—फिल्म छोड़कर साहित्यिक जीवन बिताने की कल्पना इस कृत्रिम जीवन की प्रतिक्रिया नहीं है. वह मेरे अंतस की पुकार है.

इस वर्ष के आरंभ में मेरा साहित्यकार जिस प्रकार से जागरूक होकर सामने आया था उसने मेरी सदा की महत्वाकांक्षा को स्वस्थ एवं प्रबल प्रोत्साहन दिया. हो न हो साहित्यकार के नाते अपनी महत्वाकांक्षा के अंतिम बिंदु को पाना जीवन का स्वप्न है—लक्ष्य है.

पिछले दो वर्षों के अंदर मेरी मनोवृत्तियों में जो रूपांतर आया है और आ रहा है उससे मुझे और भी बल मिलता है. मैं झटके के साथ में बड़े-बड़े बंधनों को तोड़ने की हौंस को लेकर आगे बढ़ रहा हूं. अपने 30 वर्षों के जीवन में मैंने यह देखा भी है कि इच्छा करने पर मैं अवश्य आगे बढ़ सका हूं.

दूसरी बात—यह ठीक है कि पैसे के बिना कोई काम नहीं होता. पैसे पर सारी बातें ठंडी पड़ जाती हैं. यह भी जानता हूं कि मुझे पैसे की तकलीफ कभी बहुत उलझनों में भी डाल सकती है. पर दूसरी बात मैं अपने से पूछता हूं—कलम छीनकर तुम्हारे हाथ में यदि एक लाख की थैली पकड़ा दी जाय तो क्या तुम आजीवन संतुष्ट रह पाओगे? इस प्रश्न पर मेरा लोभी मन हिचकिचाकर रह जाता है.

साहित्य के जिस स्वप्न को अब तक मैं हठपूर्वक यथाशक्ति स्थूल रूप देता चला आया हूं, वह मेरे चरित्र निर्माण में नींव का पत्थर है. उसे उखाड़ना अब संभव नहीं.

संसार व्यवहार चलाते हुए साहित्य को भी देखना और उसमें लीन रहना मुझे दो नावों पर पैर रखकर चलने के समान दिखाई पड़ता है. मैं क्रमशः इस निश्चय पर पहुंचा हूं कि साहित्यिक जीवन बिताने के लिए संन्यासी बनना आवश्यक है. मेरा यह विश्वास उत्तरोत्तर बढ़ते-बढ़ते अब प्रायः पत्थर की तरह सख्त हो चला है. यद्यपि अभी भी मुझ में कच्चापन है, परंतु सत्य को मैं अपनी दुर्बलता की आड़ में छिपाना नहीं चाहता. यदि मुझे विशुद्ध साहित्यिक जीवन बिताना है तो मुझे दूसरे मोह छोड़ने पड़ेंगे. आज मैं ऐसे स्थल पर खड़ा हूं जहां मोह के द्वंद्व में अधिक दिन रहना मेरे लिए हानिकर है—साथ-ही-साथ मेरे समस्त परिवार के लिए हानिकर है. अपने को उठाते हुए जिस प्रकार के झटके मैंने पिछले एक वर्ष में अपने परिवार को दिये हैं, उनसे विपरीत जाना सबको अनास्था के झकोलों में छोड़ देने के समान है. मेरे चरित्र-निर्माण से मेरे परिवार के प्रत्येक सदस्य का चरित्र पूर्णता को प्राप्त करने के लिए बढ़ेगा.

. . . पैसा मेरे जीवन से, मन से निकल रहा है. . . मुझे बढ़ने दो शान. मैं बढ़ूंगा. मेरी महत्वाकांक्षाओं का कोई अंत नहीं है. मैं जीवन से लेकर जीवनी शक्ति के आदि स्रोत तक के दर्शन करना चाहता हूं. मानव के रूप में मैं सारे विश्व के मानव समाज को अपने में मिला लेना चाहता हूं. प्राण के रूप में मैं प्राण के बीज-सच्चिदानंद में समाकर एक हो जाना चाहता हूं. यदि यह पागलपन है तो भी मैं इसके अंत को देखूंगा ही, चाहे वह कैसा भी हो. लेकिन मेरा विश्वास है यह पागलपन नहीं है. और इसीलिए विशुद्ध साहित्यिक जीवन बिताऊंगा. प्रतिमा मेरे साथ है. हम बढ़ेंगे.

नागरजी ने 1945 के अंत में ही फिल्मी जीवन त्यागकर शुद्ध साहित्यिक बिताने का संकल्प कर लिया था. असबाब भी बंध चुका था, परंतु श्री उदयशंकर की 'कल्पना' के संवाद लिखने के लिए कवि-मित्र एवं बंधु श्री सुमित्रानंदन पंत के अनुरोध पर मद्रास जाना पड़ा. अतः अगस्त 1947 को स्वतंत्रता-प्राप्ति के दिन उन्होंने व्रत लिया कि स्वतंत्र भारत में अब वे अपनी कलम से वेश्यावृत्ति नहीं करायेंगे और एक स्वतंत्र चेता साहित्यकार का जीवन बिताते हुए समाज और देश के नवनिर्माण में अपना भी योगदान करेंगे.

इसके बाद उन्हें जीवन में जो संघर्ष करने पड़े, उसकी एक अलग कहानी है. इस संघर्ष में यदि विजयी होने का आधा श्रेय उन्हें है तो आधा उनकी अर्धांगिनी प्रतिमा नागर को. ◻

अमृतलाल नागर के उपन्यास : दो

सुहाग के नूपुर

ब्राह्म मुहूर्त में कावेरीपट्टणम के नौका घाट की ओर आज विशेष चहल-पहल थी. सजे-बजे सुंदर बैलोंवाले शोभनीय रथों, पालकियों और घोड़ों पर नगर के गणमान्य चेट्टियार, प्रौढ़ और युवक, कावेरी नदी के नौकाघाट की ओर बढ़े चले जा रहे हैं.

नौकाघाट पर बड़ी भीड़ थी. नगर के दो सर्वश्रेष्ठ धनी मासात्तवान और मानाइहन पास-पास बैठे थे. आज चेट्टियार मासात्तवान का इकलौता बेटा कोवलन उत्तर भारत से अपनी शिक्षा पूरी करके लौट रहा था और आज ही विख्यात जल सार्थवाह मानाइहन चेट्टियार की इकलौती पुत्री कन्नगी की सगाई भी कोवलन के साथ होगी. मासात्तवान चेट्टियार कावेरीपट्टणम के ही नहीं समस्त दक्षिण भारत के स्थल सार्थवाहों के सिरमौर हैं. मथुरा, इंद्रप्रस्थ, सुदूर नगर हाट तक के श्रेष्ठ व्यापारियों में मासात्तवान की साख पुजती है. उसी प्रकार समुद्र पार के देशों में मानाइहन चेट्टियार का नाम चमकता है. शूर्पारक, बावेर, मिस्र, रोम आदि देशों तथा सिंहल, सुवर्ण, कटाह, यव आदि सुप्रसिद्ध द्वीपों तक मानाइहन चेट्टियार के साथ चलते हैं.

प्रतीक्षा की लंबी अवधि समाप्त हो गयी. भव्य चोल-सिंह-मूर्तियों से युक्त सीढ़ियां चढ़कर कोवलन ऊपर आया. पिता के चरणों पर गिर गया. महाश्रेष्ठि मानाइहन पास खड़े मुग्ध नेत्रों से अपने भावी जामाता की ओर निहार रहे थे.

कोवलन अपनी मित्र-मंडली के साथ हंसता-बोलता स्नान-घाट की ओर पैदल ही चल पड़ा.

यौवन की सीढ़ियां चढ़ती हुई एक अनिंद्य सुंदरी बाला घाट की सीढ़ियों से क्रमशः ऊपर आ रही थी. आंखें अटक गयीं. उसके मित्र कृष्ण ने कहा, "बड़े भाग्यशाली हो मित्र जो शुभ कार्य के लिए आते ही मंगलामुखी के दर्शन हुए. माधवी, इन्हें पहचाना, कोवलन चेट्टियार हैं."

माधवी की बड़ी-बड़ी मीन-सी आंखें क्षणभर के लिए कोवलन के चेहरे पर टिक गयीं. कोवलन मुग्ध होकर इन्हें देखने लगा. फिर अपने गले से बड़े-बड़े शुभ्र मोतियों का मूल्यवान हार उतारकर उसने माधवी के गले में डाल दिया और कहा, "मेरे शकुनपंक्षी की जय हो."

माला तुरंत ही उतारकर पास ही बैठे भिखारी की झोली में डालते हुए माधवी ने सदर्प कहा, "आज तो स्वयं महाराज के कंठ से उतरी हुई मुत्तुमालैं ही मेरे गले में पड़ेगी. उसके आगे और मालायें झूठी हैं." कहकर चांदी की भारी कलशी लिये माधवी आगे बढ़ गयी.

कोवलन का चेहरा अपमान से लाल हो उठा.

माधवी पेरियनायकी द्वारा मोल ली गयी कन्या था. पेरियनायकी भी अपने समय में मोल ली गयी थी. रूप जीवाओं की दुनिया में भी कुलीनता-अकुलीनता का बहुत बड़ा भेद माना जाता था. 'इलंगाइ' और 'बलंगाई' दो वर्गों में वंजि वर्ग बंटा हुआ था.

आज के नृत्योत्सव में माधवी की सर्वश्रेष्ठ प्रतिद्वंद्विनी राजम्मा की पुत्री ललिता थी. जो वंश परंपरा से प्रतिष्ठित कुल की थी.

नृत्य मंडप में कोवलन चेट्टियार को राजकुमारों की युवक मंडली में आसन दिया गया था. माधवी अपनी जगह बैठे-बैठे ही उस पर नयनबाण चलाती रही.

सभा में केवल कुछ को छोड़कर ऐसा कोई नहीं था जो माधवी के नृत्य के जादू से बंधकर वाह-वाह न कर रहा हो. मंडप उल्लास की गूंज से दूना गूंज रहा था.

महाराज ने परंपरानुसार अपने गले की मोती-माला उतारकर माधवी के गले में डाल दी, राजा के रूप में मानो समस्त जन-गण ने गणिका को वर लिया था. वह 'कामदेव का नव-धनुष' घोषित की गयी.

घोषणा सुनते ही माधवी के विजयोल्लास-भरे, मद की विद्युत गति से परिचालित नयन-बाण कोवलन की ओर सधे. महाचेट्टिपुत्र कोवलन उसका पहला शिकार था. माधवी की प्रतिज्ञा पूरी हुई. उसने वर्ष का पुरस्कार भी जीता और नगर का नवनायक भी.

कोवलन के घर उसके विवाह की तैयारियां बड़ी धूमधाम से हो रही थीं. मासात्तवान सेठ ने अपनी पुत्र वधू के लिए मदुरा से सुहाग के नूपुर बनवाकर मंगाये थे. मदुरा के पांड्य राजा की रानी के सुहाग के नूपुरों की समस्त दक्षिण भारत में चर्चा थी. वे बहुत सुंदर और मूल्यवान माने जाते थे. नगर में इस बात की बड़ी चर्चा थी.

. . . कोवलन चुपचाप माधवी के साथ अपने प्रथम समागम की तैयारियां कर रहा था. अनेक बहुमूल्य आभूषण और वस्त्र खरीदकर उसने माधवी के पास भेजे थे. नृत्योत्सव में विजयी होने के आठवें दिन कोवलन की कृपा से माधवी कन्या से नारी बन गयी. कोवलन का उसके यहां आना-जाना बहुत गुप्त रखा जाता था.

एक दिन प्रेमालाप करते हुए कोवलन ने माधवी से कहा, "तुम्हारे प्रेमधन को पाने के लिए मैं सदा तुम्हारे द्वार का भिखारी बना रहूंगा माधवी. मैं तुम्हारे आकर्षण से विवश हूं. अपने आप से विवश हूं."

माधवी मदिरा पात्र भर रही थी. मदिरा का चषक कोवलन की ओर बढ़ाते हुए फीकी मुस्कान और थके स्वर से कहा, "और कितने दिन रहोगे याचक? सप्तमी को धर्म, राज और समाज के अटल नियम मेरे आराध्य देव को मुझसे बरबस छीनकर किसी और के मन-मंदिर की प्रतिमा बना देंगे, और मैं हाथ मलती ही रह जाऊंगी, मन से अपना प्राणपति बना चुकने पर भी मैं अधिकार पूर्वक जीवन भर तुम्हें अपना न कह सकूंगी. मैं स्त्री नहीं वेश्या हूं. स्त्री के नैसर्गिक रूप, गुण और मन को पाकर भी उसके अधिकारों से वंचित हूं. मैं स्त्री नहीं, वेश्या हूं."

कोवलन ने उसकी टीस का स्पर्श पाकर भी न पाया, मदिरा की झोंक में बोला, "तुम्हारा भय मिथ्या है माधवी, मैं तुम्हारा ही रहूंगा."

"हां. . . . . रहोगे, चोर के धन की तरह. दुनिया कहेगी वेश्या माधवी ने कन्नगी के सौभाग्य को चुरा लिया. कोई यह नहीं देखेगा कि विवाह के अनैतिक धर्मपाश में बांधकर कन्नगी मेरे जीवन-सर्वस्व को बरजोरी हर ले गयी."

कोवलन की विचार टकटकी बंध गयी. धीर-गंभीर स्वर में कहने लगा, "इस विवशता को हंसकर स्वीकार करना ही तुम्हारे लिए अच्छा होगा माधवी. यह मेरी या तुम्हारी इच्छा-अनिच्छा का प्रश्न नहीं. विवाह समाज का आवश्यक नियम है."

"क्यों ?"

"संतान के लिए."

"मैं संतान नहीं दे सकती?" आंखों में विद्रोह की चमक थी.

"तुम्हारी कोख की संतान किसी कुलीन का कुलदीप नहीं बन सकती प्रिये. यह दूसरा कठोर सत्य है."

उत्तर सुन माधवी के चेहरे पर निराशा की कालिमा छा गयी. फिर सनक भरी हंसी फूटी, बोली, "मैं केवल खिलौना हूं. प्रकृति से मानवी के सारे गुण पाकर भी मैं समाज के अधिकारों से वंचित हूं. मेरे प्यार का उपहार तुम्हारा प्यार नहीं हो सकता. . . . . . केवल विलास. कोरा विलास . . . . वाह रे तुम्हारा न्याय. . . . ."

मदिरा के नशे से अधिक माधवी के नशे में मतवाला हो अपने दोनों हाथों से उसे आलिंगन में बांधकर कोवलन ने निष्ठा से अधिक काम की उत्तेजना भरे स्वर में कहा, "मेरा प्रेम तुम्हारी परीक्षा की प्रतीक्षा कर रहा है. बोलो, तुम्हारे समाधान के लिए मैं क्या साहस करूं?"

ईसा की पहली शताब्दी में तमिल के महाकवि इलंगोवन ने अपने महाकाव्य 'शिलप्पदिकारम्' में नगरवधू बनाम कुलवधू जनित नारी की पीड़ा को रेखांकित किया था ...और ठीक दो हजार वर्ष बाद नागरजी ने सन् १९६० में अपनी नयी रचना के लिए उसी कथा को आधार बनाया ...और संभव है अगले दो हजार वर्ष बाद फिर कोई लेखक इसी कथा को अपनी रचना का आधार बनाये ...आखिर कैसी है वह पीड़ा जिसका निदान मानव कई हजार वर्षों में भी नहीं खोज सका और न खोज पाने में समर्थ हो सकेगा?—प्रस्तुत है कई-कई बार पुनलखन क लिए प्रेरित करनेवाली उसी रचना के नव्यतम रूप 'सुहाग के नूपुर' का सार-संक्षेप—

माधवी तनकर बैठ गयी. तीखे दृढ़ स्वर में उसने कहा, "कन्नगी के सपनों की पहली रात तुम मेरे यहां रहोगे और......तुम्हारी कन्नगी मेरी नागरत्ना की तरह तुम्हारी और मेरी सेवा में...."

कोवलन की आंखें आश्चर्य से फट गयीं, "कन्नगी.... यहां ?"

"बस? परीक्षा के एक ही झोंके से तुम्हारे प्रेम की अखंड ज्योति खंडित हो गयी? जाओ चेट्टियार, अब किसी से प्रेम का झूठा दंभ मत करना." माधवी फुर्ती से उठने लगी.

उतनी ही त्वरा से व्यग्र, विकल कोवलन ने झुककर उसकी बांह पकड़ ली. अपनी गोद में घसीटकर धीमें कामोतप्त स्वर में कहा, "मेरी प्राण, मेरी मोहमयी.....मेरी..... मेरी, तुम्हारे लिए कुछ भी अदेय नहीं. मैं वचन देता हूं कि अपनी पहली रात में दो महान कुलों की लक्ष्मी, अपनी सौभाग्य लालिमा से तुम्हारे चरण रंजित करेगी. उठो, मेरे तृषित मन को अपने नृत्य और यौवन की मदिरा से छककर भर दो."

कहने की देर थी. माधवी ने वातावरण में जादू भरना आरंभ कर दिया. अपनी महाविजय पर माधवी आनंदोन्मत्त हो उठी थी. जो कोई न कर सकी, वह माधवी ने किया, जो किसी का प्रेमी न दे सका वह माधवी ने अपने प्रेमी से पाया.

सोलह वर्ष बाद मासात्तुवान सेठ की हवेली उनकी पुत्रवधू नयी कुल-लक्ष्मी के सुहाग-नूपुरों की रुनझुन से भर गयी. वे उसे अंतःपुर के मुख्य-कोषागार में ले गये. वहां पूजा-अर्चना के बाद ताली सौंपते हुए श्वसुर ने अपनी पुत्रवधू को आशीर्वाद देते हुए कहा, "हमारी सात पीढ़ियों की गृह-लक्ष्मियों ने इस कुल-लक्ष्मी की रक्षा की है. आशीर्वाद करता हूं कि तुम्हारे हाथ से यह वैभव सदा फलता-फूलता रहे."

माधवी की आंखों से हर्ष के चमकते तारे झड़ पड़े—उसकी पुतलियों में समर्पण का अगम-मादक समुद्र उमड़ रहा था. कोवलन ने इससे पहले कभी इतना रस-वैभव न देखा था. उसकी आंखें चकित थीं, लुब्ध थीं.

जादू के क्षण बीते. कोवलन ने हंसकर माधवी से कहा, "लो प्रिये, तुम्हारी नयी दासी को ले आया."

कन्नगी सिर झुकाये, सौम्य, संयत, मूर्तिवत निश्चल खड़ी थी.

नागरत्ना फुर्ती से द्वार की ओर बढ़ी, तभी छोटी स्वामिनी का स्वर सुनाई पड़ा, "पहले मेरे घुंघरू दे जा नागरत्ना.....परसों अपने विवाह के उत्सव में स्वर्ण सिंहासन पर मेरे प्राणपति के साथ बैठकर नयी सेठानी ने अपने पिता की कोठी में मेरा नृत्य देखा था. आज मेरे कोठे पर सेठानी नृत्य करेंगी और मैं अपने प्रिये के साथ बैठकर देखूंगी. मैं परीक्षा लूंगी. देखूंगी कि मेरे प्राणेश्वर पर एक सामाजिक नियम का सहारा लेकर अधिकार जमानेवाली स्त्री में ऐसा कौन-सा गुण है जो मुझमें नहीं है...नागरत्ना. देती क्यों नहीं घुंघरू?"

उसके हाथ से घुंघरू लेकर कन्नगी की ओर बढ़ाती हुई माधवी बोली, "घुंघरू बांधो सेठानी."

"नागरत्ना मदिरा." कोवलन ने आंखें मींचे हुए ही आज्ञा दी.

कन्नगी ने सिर उठाया. एक बार माधवी को देखा. माधवी के नयन कतरा गये. कन्नगी ने कहा, "बहन, मेरे देवतुल्य पतिकुल ने सुहाग के

नूपुरों से मेरे पैरों को बांध दिया है. ये घुंघरू तुम्हारे ही पैरों में शोभा पायेंगे." 'सुहाग के नूपुर' शब्द मन के अभाव खड्ड में ऐसे पड़े मानो भारी गठरी कुएं के पानी में छपाका मार स्रोत के तल में जा लगी हो.

"हां, सुना है कि इन बहुमूल्य नूपुरों के कारण तुम नगर-भर की सुहागिनों के लिए ईर्ष्या की वस्तु बन गयी हो. पर इनसे अपने सौभाग्य देवता को न रिझा सकोगी गुइयां, वह शक्ति मेरे ही घुंघरूओं में है."

कन्नगी ने उसी प्रकार संयत भाव से उत्तर दिया, "मुझे तुम्हारे घुंघरुओं से ईर्ष्या नहीं बहन. मेरी दृष्टि में उनका कोई मूल्य नहीं."

"तुम अपने को उच्च और मुझे नीच समझती हो? तुम मुझसे घृणा करती होगी, है न?"

"मैं तुमसे घृणा क्यों करूं बहन, तुम अपनी परिस्थितियों के कारण ऐसी हो. इसमें तुम्हारा क्या दोष है?"

सुनकर माधवी परास्त हो गयी. "सुन रहे हो, तुम्हारी नवेली सुहागिन मेरी परिस्थितियों को ताने मार रही है."

कोवलन तब तक मदिरा के सहारे कुछ-कुछ होश और मस्ती पाकर सनक गया था. नागरत्ना के हाथ से भरा मदिरा-पात्र लेते हुए उसने कहा, "सोच रहा हूं कि आज की रात मेरे संन्यास ग्रहण करने के लिए उत्तम मुहूर्त आया है..."

उस रात माधवी के घर कन्नगी को लेकर कोवलन के जाने की बात जग की चर्चा बनने से बच न सकी. कुलीन घरों के वेश्या-प्रेमी युवकों में यह उदाहरण अभूतपूर्व था और अकल्पनीय था. यह समाचार भूकंप के धक्के से कम नहीं था. कोवलन सचमुच दुखी था. कन्नगी के शील ने उस पर ऐसी विजय पायी थी कि स्वयं उसका अंतर्पुरुष भी अपना पौरुष, तेज प्रदर्शित करने के लिए तड़प रहा था.

कोवलन ने अब अपना ध्यान कामकाज में लगाया. उसने अपने पिता और श्वसुर दोनों के कारबार का प्रबंध देखना शुरू किया. कुछ समय बाद वह अपनी पत्नी कन्नगी को साथ ले वाणिज्य-व्यवसाय के उद्देश्य से विदेश रवाना हो गया. और जब वह कावेरीपट्टणम लौटा तो चारों ओर उसकी व्यापार कुशलता की चर्चा थी. कन्नगी से उसे असीम सुख मिला था.

...और माधवी के पिछले दो वर्ष पल-पल पहाड़ बनकर बीते थे. रोयां-रोयां कोयले की तरह सुलगता था.

एक दिन माधवी ने सूचना दी कि वह गर्भवती है.

कोवलन के मानसिक तराजू के पलड़े फिर अपना संतुलन खोने लगे. माधवी परम सुखी थी. कोवलन की संतान की माता बनकर गृहिणी-भाव जागा.

नगर के कोने-कोने में इसी चर्चा की गूंज थी. माधवी कुलीनों के क्षेत्र में आ बसी थी. कोवलन की पैतृक हवेली में. किराये के पंडित बुलाकर मासात्तुवान की हवेली में माधवी और कोवलन का विवाह हुआ. पत्नी बनते ही उसने अपने अधिकार मांगे. "सुहाग के नूपुर दो, कुल-लक्ष्मी की पूजा का अधिकार दो."

कोवलन अपने जादू से आप ही ठगा-सा रह गया. "वाह री सती ... तेरे प्रति मेरे मोह की अंतिम परिणति यदि यही है, तो एवमस्तु. ला, ढाल, इतना बेसुध कर दे कि मैं कन्नगी से उसका अधिकार हरण कर लाऊं."

कन्नगी ने सविनय वंश-निधि कोष की चाबी और सुहाग के नूपुर देने से इनकार कर दिया. कोवलन ने उसे लहूलुहान कर दिया... अंतःपुर से बाहर ड्योढ़ी तक शव की भांति घसीटते हुए उसे ले आया. उसकी करधनी में बंधा तालियों का गुच्छा खोल लिया, और अंदर जा पूरी शक्ति से कपाटों को धकेलकर फाटक बंद किया और थककर वहीं गिर पड़ा.

कन्नगी के लिए अपने घर के द्वार बंद होते ही लोक-सहानुभूति के अनेक द्वार खुल गये. वह अपने श्वसुर द्वारा बनवाई हुई सत्रम (धर्मशाला) की ओर चली. देवंती गैल बतलाती चली.

मानाइहन तक बात पहुंची तो वे दौड़े आये. कन्नगी बोली, "इस समय पीहर जाकर मैं श्वसुर-कुल को कदापि न लजाऊंगी, अप्पा."

"तुमसे दोनों ही कुल उजागर हुए. तुम्हारी माता की कोख धन्य हुई. मैं बहुत प्रसन्न हुआ बेटी... मैं परम शांत हूं..." पिता बोले.

माधवी के सामने जाकर कोवलन उस दार्शनिक के समान बैठ गया जिसे सुख-दुख, आशा-निराशा में समान रूप से हंसी आती है. यह हंसी माधवी को चिढ़ा गयी. तमककर, पूछा, "लाये?"

"ला पाता तो आकर यों बैठता?"

"तो अब यों भी न बैठ पाओगे. मैं अब तुम्हें तुम्हारी चरमगति पर ही पहुंचाकर दम लूंगी. अपना सर्वस्व निछावर कर चुकने के उपरांत अंत में तुमसे कुछ न मिला. तुम मुझे सती न बना सके तो अब मैं तुम्हें वेश्या बनकर ही दिखाऊंगी. निकल जाओ मेरे घर से, उठो! जाओ..."

"यह मेरे पुरखों का घर है.."

"अब था तब था. वेश्या के पास जो आयेगा उसी का हो जायेगा. उठो निकलो!" माधवी ने उसका हाथ पकड़कर झटका दिया.

"नागरत्ना! इस निकम्मे, निर्लज्ज कापुरुष को मेरे सामने से धक्के मारकर बाहर कर. पकड़ इसका हाथ. मैं अब बदल नहीं सकती. इस कापुरुष को सह नहीं सकती. चल निकल!"

माधवी दोनों हाथों से कोवलन को खींचने लगी. वह चौकी से गिर पड़ा. कोठे, दालानों की चौखट से रगड़ खाती हुई कोवलन की देह टूटी-टूटी जा रही थी. परंतु एक कराह तक न निकली.

कोवलन जड़ हो चुका था. शव की भांति अपने ही घर के अंतःपुर के बाहर पड़ा रहा.

कुछ समय बाद अपने नये प्रेमी एक राजपुरुष के जरिए माधवी ने कोवलन को सरे आम सिपाहियों से पिटवाकर घूरे पर फिकवा दिया.

जनश्रुतियों में दौड़ते-फिरते चेलम्मा तक यह दुःसमाचार पहुंचा. वह रात में कई पुरुषों की सहायता से उसे शिविका में उठाकर कन्नगी के यहां ले गयी.

दूसरे दिन प्रातःकाल कोवलन ने आंखें खोलीं. दोपहर तक आशाजनक रूप से स्वस्थ हो चला. देवंती स्वामी के तलवे सहला रही थी. स्वामिनी की आवाज सुनकर वह उठने लगी. कोवलन ने आंखें खोलीं, "तेरी सखी क्या अब मेरा मुंह भी न देखेगी देवंती?"

द्वार पर खड़ी कन्नगी तुरंत आगे बढ़ी. देवंती ने कहा, "मेरी सखी आप ही का श्रीमुख देखकर जीती है प्रभु. वह केवल आपकी आज्ञा की प्रतीक्षा कर रही थी."

तब तक कन्नगी पति के चरणों में अपना शीश नवा चुकी थी. कन्नगी ने सिर उठाकर पति को देखा, "आप आ गये, मेरा भार उतर गया."

"मन की बात और है, तन की बात सोचता हूं... व्यवहार की बात सोचता हूं प्रिये—धन, मान, व्यापार!"

"सब कुछ फिर से आ सकता है. आपको व्यापार आरंभ करते देर ही कितनी लगेगी..."

"पूंजी कहां से लाऊंगा?"

कन्नगी मुस्करायी, "अप्पा मेरे पैरों से लक्ष्मी को बांध गये हैं. इन नूपुरों को बेचिए, नया जीवन आरंभ करने के लिए इनसे पर्याप्त धन मिल जायेगा. सुना है नौ लाख मुद्राओं में बने थे."

"तुम अद्भुत हो कन्नगी. इतना सहकर भी जो न दिया, वह अब इतने सहज भाव से दिये डाल रही हो?"

"ये नूपुर आपकी प्रतिष्ठा के प्रतीक हैं स्वामी, विलास के नहीं. मैंने नया कुछ नहीं किया, न तब, न अब. इन्हें बेचकर काम चलाइए."

तुम निष्ठा में मुझसे बहुत बड़ी हो कन्नगी. यदि उठ सका तो यह तुम्हारी निष्ठा के सहारे फिर से संभव होगा..."

कोवलन नये जीवन के स्वप्न में बंधने लगा. हारे हुए पुरुष ने सब कुछ पा लिया था. उसके तन-मन की सारी पीड़ाएं मानो जादू का स्पर्श पा विलीन हो गयी थीं.

□

प्रस्तुति : कांता

गुलिस्तां कालोनी से महानगर-इंदिरा नगर-अलीगंज होते लोहे वाले पुल से पुराने लखनऊ की ओर जाना केवल जाना ही नहीं होता. रूमी दरवाजे से छोटे इमामबाड़े की ओर जाते हुए लखनऊ की स्काई लाइन पर मस्जिदों तथा मीनारों की पंक्ति दिखाई पड़ती है. शाम के डूबते सूरज की ललाई में यह मंजर और आकर्षक हो जाता है. आपके पैर अपनें आप रुक जाते हैं.

लेकिन आपको तो नागरजी के यहां जाना है. आप को कहां उलझा दिया मैंने. आप बायें मुड़ जाइए और गोल दरवाजे से चौपटिया जाने वाली सड़क पर उलटी तरफ से आकर उस गली के सामने गाड़ी रोक दीजिए. नागरजी तक पहुंचने के पहिले आपको अपना मन बनाना होगा. पतली गली से होकर आप नागरजी की हवेली के बड़े दरवाजे तक पहुंचेंगे जिसे पूरा खुला मैंने अपने तीस बरसों के लखनऊ-निवास-काल में शायद ही कभी देखा हो. लकड़ी के उन दरवाजों को आप चाहें भी तो खोल नहीं सकते. आप पूरी ताकत लगाकर बायेंवाले विशाल पल्ले को ढकेलिये तो वह आपकी ताकत और साइज के हिसाब से बस उतना ही खुलेगा जितने से आप भीतर जा सकें. भीतर के दालान में खड़े होकर आप उस विशाल मकान का बड़ा-सा आंगन देखिए: जिसके चारों ओर दुमंजिले कमरे बने हैं. आपके ठीक सामने विशाल बरामदा है, फिर उसके भीतर पुरानी हवेली का बड़ा हाल जिसमें नागरजी का संसार फैला हुआ है. सत्यजित रे और श्याम बेनेगल को हवेली का यह माहौल बहुत प्रिय है. 'शतरंज के खिलाड़ी,' 'जुनून' और कई और फिल्मों की शूटिंग भी यहां हो चुकी है.

नागरजी ने इस जादुई माहौल को बरकरार ही नहीं रखा है बल्कि काफी हद तक उसे बढ़ाया भी है. उनके कमरे में उनकी पसंद के सामान अपनी बेतरतीबी की तरतीब में अटे पड़े हैं. पुरानी रैकों में भरी पुरानी पुस्तकों की जिल्दें, लक्ष्मण टीले से खोदकर निकाली गयीं कुषाण कालीन ईंटें, जगह-जगह से लायी गयीं विभिन्न समयों की मूर्तियां, मेलों से पसंद करके लाये गये खिलौने, जन्माष्टमी की झांकी, नर्तित गणेश और न जाने क्या-क्या! एक ओर चौकी पर गद्दे जमाये, तकियों पर तकिये रखे खुद नागरजी. इसी में टेलीफोन और टी.वी, सोफे और चाय की टेबुलें भी. पुराना बोसीदा माहौल जिसे नागरजी ने बिना इंटीरियर डेकोरेटर की मदद के और गहरा कर दिया है. अपनी पसंद की सजावट से, हर बाहर की दुनिया से आनेवाले को अरेबियन नाइट्स की दुनिया से कहीं अधिक आकर्षक लगता है. फिर सत्यजित रे हों या श्याम बेनेगल घुटने टेकने के अलावा उनके पास और रास्ता ही क्या बचता है.

अमृतलाल नागर प्रियजनों की नजर में : तीन

बराबर अकेले पड़ते जाने की स्थिति

एक लेखक की नजर जब दूसरे लेखक की जिंदगी पर पड़ती है तो वह किस तरह उसे विश्लेषित करता है! यहां प्रस्तुत है ठाकुर प्रसाद सिंह की नजर—

हर नया उपन्यास वे अंतिम कहकर शुरू करते हैं पर उसे पूरा करते ही उन्हें लगता है कि कही जानेवाली बात तो रह ही गयी. इस बार जो नया उपन्यास उन्होंने पूरा किया है वह 'खंजन-नयन' या 'अग्निगर्भा' जैसा फरमाइशी नहीं है. इस बार उन्होंने पूरे अवध को अपने जाल में समेटा है. पूरी तरह अपनी इच्छा से. पहला खंड पूरा किया है पर अभी तो पूरा समुद्र सामने है. हेमिंग्वे के 'ओल्ड मैन एंड द सी' के बूढ़े मछुआरे की तरह उन्होंने अपने शरीर की जर्जर नाव के भरोसे शार्क पकड़ने की जो साहसिक यात्रा शुरू की है, वह उनके पुराने सपनों का ही हिस्सा है. कभी 'शतरंज के मोहरे' जैसे जबरदस्त उपन्यास पर उन्हें बधाई देते हुए मैंने शिकायत की थी कि उन्होंने अवध का विशाल कैनवस बीच ही में ईजेल पर से हटाकर और तरह की पेंटिंग्स बनानी क्यों शुरू कर दीं?

वे जिस वेवलेंथ पर सोचते या बातें करते हैं, उस फ्रीक्वेंसी पर जाना मुश्किल है. वैसे नागरजी पहली नजर में एक खुले हुए, बैठकबाज दोस्त जैसे लगते हैं. अत्यंत अमूल्य रचनाएं भी वे बड़ी सादगी से पैसे के लिए लिखी हुई बताते हैं, और वे बिना मतलब के झूठ बोलते भी नहीं पर साधारण बोझ ढोने वाले तथा हर क्षण अपनी बेचैनी को मोती की शक्ल देने वाली सीपी के श्रम में अंतर तो होगा ही.

नागरजी कभी लखनऊ के बहुत ही जागरूक और हर दिल नागरिक हुआ करते थे. भगवती बाबू और ज्ञानचंद जैन के साथ सिनेमा की लाइन में कई बार हम लोगों से आगे रहे हैं, सुशांयन, सदा हंसते और लोगों को हंसाते. बड़े समारोहों में अपनी विशिष्टता से अलग दिखायी पड़ते. पर अब वे बाहर दिखायी पड़ते हैं. घर जाने पर वे ललक कर मिलते हैं और पुराने दिनों में लौट जाते हैं. यशपालजी तथा भगवती बाबू के साथ की साझेदारी रही नहीं. वे एक तरह से अकेले छूट गये हैं, खाली जगह खाली पड़ी है. वहां श्रीलाल, कुंवरनारायण या कक्कड़ में कोई नहीं आया है. वे लखनऊ में लगभग अकेले पड़ गये हैं.

पत्नी के जाने के बाद उनका निर्वेद और बढ़ जायेगा. बहुत पहले छोटे भाई रतनलाल के जाने से वे हिल गये थे, फिर पिछले दिनों सबसे छोटे भाई मदनलाल भी चले गये. जो लोग नागरजी को जानते हैं वे ही समझ सकते हैं कि पत्नी प्रतिभाजी और दोनों छोटे भाई उनके लिए कितने जरूरी थे. नागरजी ने सारा कुछ अकेले लिखा है, वैसे ही सारा कुछ सहा तथा झेला भी अकेले ही है. बहुत ही सामान्य स्थिति में रहकर भी लिखने के लिए बंबई छोड़ी, फिर आकाशवाणी की अच्छी-खासी नौकरी. छोटे-छोटे बच्चे तथा लड़खड़ाते पैरोंवाले छोटे भाई. तभी उन्होंने निर्णय लेने के पूर्व पत्नी से राय मांगी थी. . .कुल दो महीने पूर्व उनके घर पर ही रसोईघर के बाहर बीमारी से उठकर बैठी प्रतिमाजी के पास बैठकर मैंने वे अंतरंग संघर्ष-वर्ष एक बार फिर जिये थे जो नितांत उनके थे. वे बीमारी से एकदम हिल गयी थीं पर हमेशा की तरह नागरजी को देखती चल रही थीं.

नागरजी दूर से हमें देख रहे थे. कुछ शर्मिंदा से. . .जैसे वह सब सुन रहे हों, जो प्रतिभाजी कह रही हैं. अकेले होने पर उन्होंने मेरा हाथ पकड़कर जैसे अपने जवानी के फक्कड़पन के लिए मेरे माध्यम से पत्नी से क्षमा मांगते हुए कहा, "मेरे पागलपन के लिए इसने बहुत कष्ट झेला है. यह न होती तो मैं क्या लिख पाता?"

मैंने चुटकी लेते हुए कहा कि वे कह रही थीं कि उनमें प्रतिभा कम नहीं थी, लिख भी वे सकती थीं. संगीत में उनकी रुचि थी. पर सब छोड़कर उन्होंने आपको थाम लिया. नागरजी कातर हो आये. वे सबका ऋण लौटा सकते हैं पर पत्नी का ऋण तो जन्म-जन्मांतर तक नहीं उतरेगा. अब प्रतिभाजी मुझे दूर से देख रही थीं. उनकी मुद्रा से लगता था कि वे भी सब सुन रही हैं. दरवाजे तक मुझे छोड़ने आयीं तो जैसे अधूरी बात पूरी कर गयीं, "बच्चों जैसे हैं, नागरजी. उन्हें छोड़ दूं तो कैसे रहेंगे?"

मैंने भाभी से मजाक का रिश्ता संभाला, "आप लोग छोड़ती कहां हैं?" श्री इलाचंद्र जोशी के शब्दों में 'मित्रवर, इसमें चक्कर ही चक्कर है.' यह मामला तो जन्म जन्मांतर का है.

इस बीच वे नागरजी को छोड़कर चली भी गयीं. अब वे एकदम अकेले रह गये हैं. □

अमृतलाल नागर की व्यंग्य रचनाएं : एक

नवाब साहब

कहते हैं खुदावंदकरीम जब किसी को कुछ देना चाहता है, तो पहले उसका छप्पर फाड़ डालता है; मगर जनाब, यहां तो उसने मेरी कमीज पर ही हाथ साफ किया.

किस्सा यों है कि कलकत्ते की सिंदुरिया पट्टी के मोड़ पर खड़ा पान खा रहा था. एकाएक ऐसा मालूम पड़ने लगा कि मेरे बगल में लखनऊ के मशहूर ताजिर इत्रफरोश असगर अली मोहम्मद अली की ब्रांच नहीं, तो एजेंसी तो जरूर ही खुल गयी है. जो नजर घुमा के देखता हूं तो वल्लाह, आंखें जुड़ीं, कलेजे को ठंडक पहुंची. एकदम खयाल मुझे लखनऊ के चौक में दौड़ा ले गया. इन ढीली धोती और पगड़ीवाले बंगालियों और मारवाड़ियों के शहर में वह चुस्त चपकन, वह सुरमीली आंखें, वह काकुलें—बस आपसे क्या अर्ज करूं, दिल ने चाहा कि उस अदा पर वहीं अपने को सौ बार कुर्बान कर दूं. नवाब साहब भी पान खाने के लिए ही खड़े थे. सीने पर लगी हुई पतली-सी जेब में, जरा कमर झुकाकर, इस नजाकत के साथ, उन्होंने दो उंगलियां डालकर एक इकन्नी निकाली कि . . .मगर वैसे ही बगल से एक बंगालिन मजदूरनी चमककर धक्का देती हुई निकल गयी. मैं एकदम दीवार से भिड़ गया. जरा संभलना चाहता था कि पीछे से झूमता हुआ एक मस्त सांड आ धमका. लपक के तेजी में जो आगे बढ़ना चाहा हो तो दीवार में लगी हुई कील ने इस नाचीज पर ऐन इनायत की. चररर-चर्र से कमीज की बांह ने अपना दरवाजा खोलकर फटी बनियाइन की बांकी झांकी लोगों को ठीक उसी तरह दिखाना शुरू किया, जैसे कि हवा का तेज झोंका अक्सर काले देव की बेगमात के चेहरों का नकाब उलटकर लोगों को उनकी खूबसूरती का कायल करना चाहता है. मैं आपसे अर्ज करूं, कि खुदा जाने कितनी हसरतों और तमन्नाओं को एक फकत उस कमीज में लपेटकर लखनऊ से कलकत्ता आया था कि इस नयी कमीज को पहनकर दिन-भर मिलों में नौकरी की तलाश में घूमूंगा, शाम को टहलने जाऊंगा और रात को अपने ही हाथों सनलाइट साबुन से इसकी मालिश किया करूंगा. मुर्गी के लिए तकुए का घाव ही बहुत होता है. मेरी कमीज का फट जाना और अवध के कन्हैया नवाब वाजिदअली शाह साहब से अंग्रेजों का उनकी तमाम सल्तनत का छीन लेना, बिलकुल एक ही वजन की दो चीजें थीं.

पैदाइश, रहना-सहना खास लखनऊ का ही ठहरा, अगर कहीं बनारस या मिर्जापुर का असर होता, तो आप यकीन ही मानिए, उस पानवाले की खैर न थी, जो कम्बख्त दीवार में कील ठोंके रहता है. नवाब साहब ने बड़े अफसोस के साथ मेरी तरफ देखकर हमदर्दी से भरे दो-चार अल्फाज कह दिये. गमगीन था ही, उनकी इस हमदर्दी से हुब्बे-वतनी ने जोर मारा. एकदम एक सेकेंड के लिए अपना दुख-दर्द भूलकर अपने शहर की तहजीब के खयाल में गर्क हो कुछ योंही बदहवास-सा हो गया और कमीज की बांह पकड़कर उसी बदहवासी की हालत में जो आगे बढ़ा, तो नवाब साहब भी पलटे. मेरे एक हल्के-से धक्के से उनकी पतली खुशनुमा, नाजुक छड़ी हाथ से छूटकर गिर पड़ी.

कसम खा के कहता हूं, शर्म से पानी-पानी हो गया. . .

"आह मुआफ फरमाइएगा," कहकर मैंने लपककर उनकी छड़ी उठायी, दामन से साफ किया, होंठो से चूमा और दोनों हाथों में रखकर उनकी तरफ झुका. झुककर नवाब साहब ने छड़ी उठायी, शुक्रिया अदा किया और फिर फरमाया, "आपकी कमीज फट जाने का मुझे निहायत अफसोस हुआ."

उनके सामने कैसे कहता कि अफसोस की बस कुछ पूछिए मत, यहां तो दिल पर छुरियां चल रही हैं. मगर दिली जज्बात को कलेजे पर हाथ रख के रोका और यों अर्ज किया, "अजी वाह, इस जरा-सी बात के लिए अपने दिल को रंज न पहुंचायें. कोई खास बात नहीं. मैं जनाब की इस हमदर्दी के लिए शुक्रिया अदा करने की इजाजत चाहता हूं."

बड़े तपाके के साथ नवाब साहब ने फरमाया, "वल्ला, आप भी . . ." फिर एक लम्हे के लिए रुककर जरा जोश के साथ कहा, "माशाअल्ला, क्या शीरीं जबान है, च-हा-हा! जनाब का दौलतखाना?"

"गरीबखाना लखनऊ में है, बंदापरवर!"

बड़े जोश के साथ मेरा हाथ अपने दोनों हाथों में निहायत मुलायमियत से दबाकर कहा, "ओहो, वल्ला, तभी मैं कहूं कि यह लहजा, यह तर्जे गुफ्तगू सिवा हमारे शहर के और कहां आ सकती है? मगर भाईजान, खूब मुलाकात हुई आपसे भी, आप यकीन मानियेगा, वल्ला आंखें तरस उठी थीं अपने हमवतन को देखने के लिए."

निहायत अदब के साथ मैंने अर्ज किया, "हें-हें-हें, मुआफ फरमाइएगा, हुजूर यहां कहां तशरीफ रखते हैं?"

"बंदा यहां जकरिया स्ट्रीट पर कयाम करता है. बात यह है कि मैंने आपसे अर्ज किया न, कि जानआलम नवाब वाजिदअली शाह साहब खुदा उन्हें जन्नत बख्शें, मेरे परबाबाजान थे. जी हां! और अब एक तरह से आप खयाल फरमाइए कि यहीं का बाशिंदा हूं. इधर हाल में ही कोई तीन-चार महीने का वाकया है, लखनऊ गया था. मगर साहब, सच तो यह है कि वहां जाकर अब जी भर आता है. कहां तो अपना शहर; अपनी हुकूमत! आप यकीन मानिएगा, वहां जाकर मैं फूट-फूटकर रोया. सब कुछ लुट गया जनाब, आह!" नवाब साहब कुछ देर के लिए शोक में डूब गये.

मुझे अपनी फटी हुई कमीज का जो ध्यान आया तो दिल गले-गले भर आया. निहायत अफसोस के साथ एक सर्द आह खींचकर अर्ज किया, "अरे, वह दिन हवा हुए, जब पसीना गुलाब था. आह, क्या-क्या अरमान था, कितनी हसरतें थीं. सारी रियासत तबाह हो गयी. मगर अब क्या? एकदम मजनूं की तरह घूम रहे हैं. कहां तो ये हालत थी कि अरबों का कपड़ा उठाकर गरीबों को बांट दिया और चेहरे पर शिकन तक नहीं, और कहां आज यह हालत है कि बस पूछिए मत. जिसकी जैसी इज्जत है, वही बनाये बैठे हैं. मगर अब खुदा की मर्जी में चारा क्या है? जिसकी इज्जत उसने लूट ली, हम तो कहते है, भाई लूट लो. तुम्हीं ने बख्शी थी, अब वापस ले रहे हो. खैर, तुम्हारी मर्जी!" कहकर मैंने फिर एक सर्द आह खींची.

नवाब साहब ने बात पटलते हुए कहा, "लखनऊ में आप किस जगह तशरीफ रखते हैं?"

"फिदवी पीटेनाले पर आपके जेर साये परवरिश पाता है."

"क्या फरमाया आपने, पाटेनाले पर? पाटेनाले पर तो मेरे मामूजाद भाई भी रहते हैं. गालिबन आप उनसे वाकिफ भी हों. जनाब फरजंद अली साहब उनका इस्म-मुबारक है."

हलफ उठाकर कहता हूं, इस नाम को अपनी जिंदगी में पहली ही बार सुना था. वजह यह थी कि पाटेनालेवाला अपना जाती मकान जब खंडहर हो गया तभी से वालिद बुजुर्गवार साहब मय अपने बाल-बच्चों के मुफ्तीगंज में किराये के मकान में उठ आये थे. मगर अब इस वक्त तो अपनी, अपने बाप-दादों के बड़प्पन की और नवाब साहब की शान रखनी थी. लिहाजा चट से बोल उठा, "बखूबी जानता हूं साहब! . . . और सच तो यह है कि नवाब साहब के यहां ही मेरी चौबीस घंटे की बैठक है. च-हा-हा-हा, अल्लाताला ने क्या नेक तबीयत उनको बख्शी है! वाह-वाह. खुदा उन्हें सलामत रक्खे, बड़े जिंदादिल आदमी हैं वह भी."

नवाब साहब ने एक बार फिर बड़े जोश के साथ मेरा हाथ दबाया

और बोले, "ओहो, तब तो आप मेरे अजीज हैं. जनाब का इस्म-शरीफ?"

"खाकसार को 'तस्लीम' लखनवी कहते हैं."

"अच्छा, आप ही तस्लीम साहब हैं. जनाब से नियाज हासिल करने का तो एक अरसे से इश्तियाक था. और फरजंद भाई तो आपकी इस कदर तारीफ करते थे कि बस! यकीन मानिएगा, सचमुच इस वक्त तो तबीयत खुश हो गयी माईजान! वल्ला देखिए, खुदा की मर्जी! च्-हा-हा-हा. भई फिर कहूंगा कि खूब मिले माईजान! जिन दिनों मैं लखनऊ गया हुआ था, शायद आपकी वहां तशरीफ नहीं रखते थे."

"जी हां, आप का फरमाना बजा है. उन दिनों देवें-शरीफ का मेला था, वहीं मुशायरे का इंतजाम था और आपका यह गुलाम उस जलसे की सदारत के लिए गया था, वरना आपसे दीदार हासिल हो जाता."

"और कहिए, फरजंद भाई तो मजे में हैं न?"

"जी हां, अल्लाह का शुक्र है. आपको अक्सर याद किया करते हैं."

नवाब साहब हंसते हुए बोले, "अरे जनाब, हम लोग तो हम-प्याला और हमनिवाला हैं. आपको शायद मालूम भी हो, भाईचारे से जियादा हम लोग एक-दूसरे के जिगरी दोस्त हैं. और कहिए, उनका लख्तेजिगर महमूद तो मजे में है न? बड़ा शरीफ लड़का है."

"जी हां, बड़ा शरीफ, मगर यकीन मानिए कि मेरा बड़ा अदब करता है, जी हां."

"और वो अब्बासी महरी? भई बड़ी नेक है."

"जी हां, क्या कहने हैं उसके भी. गजब का इखलाक है और ऐसी पुर-मजाक कि वाह! मैं कलकत्ते आने लगा तो तांगा रोक के बोली, मेरे लिए मुर्शिदाबादी साड़ी लाइयेगा. देखिए, भूलियेगा मत."

"और उनका लाल बटेर! आपको मानना होगा साहब, कि उसकी जोड़ का लखनऊ में दूसरा न मिलेगा."

निहायत अफसोस के साथ सांस लेकर मैंने कहा, "अरे जनाब, बस अब कुछ अर्ज नहीं किया जाता. कलेजा मुंह को आ रहा है. आज कोई आठ रोज हुए, अल्लाह करे उस कम्बख्त बिल्ली को जहन्नुम में भी कीड़े नोच-नोचकर खा जायें. खुदा की मर्जी, उसी के हाथों उसे जन्नत बदी थी."

एकाएक चौंककर नवाब साहब ने फरमाया," अरे यह आप क्या फरमा रहे हैं? हाय-हाय, बड़ा प्यारा जानवर था. अब तक उसका चेहरा आंखों के सामने नाच रहा है. क्या नोकीली चोंच थी. और साहब, क्या मस्तानी अदा थी उसकी भी. खैर साहब, जब आप लखनऊ तशरीफ ले जायें, तो मेरी तरफ से फरजंद भाई को दिलासा दीजिएगा."

एक-दो मिनट तक चुप रहने के बाद नवाब ने दोनों हाथों से छड़ी को कमर के पीछे रख, पान की गिलौरी को एक गाल से दूसरी तरफ फेरते हुए कहा, "और हाल-चाल क्या है?"

मैंने भी निहायत इतमीनान के साथ जवाब दिया, "और सब अल्लाह का शुक्र है, आपकी नवाजिश है."

"लखनऊ में शायद आप अच्छन टांगेवाले को भी जरूर जानते होंगे. जनाब ऐसा जबर्दस्त पेंच लड़ानेवाला आपको जरा कम मिलेगा. च्-अहा-हा! अभी हाल ही में जब मैं लखनऊ गया था, फरजंद भाई ने कहा, 'मियां इसका भी पेंच देखते जाओ.' हमने हंसकर टाल दिया कि क्या खाकर कोई अब लखनऊ में कनकव्वा उड़ायेगा. कहां तो साहब यह हाल था कि आप यकीन नहीं लायेंगे, मेरे वालिद साहब मरहूम ने एक बार हुसेनाबादवाले लड्डन नवाब से मैदान बदा. आप यकीन मानें आंखों देखी बात अर्ज कर रहा हूं. वो-वो पेंच लड़े थे कि बस आपसे क्या अर्ज करूं. सारा शहर खड़ा-खड़ा देख रहा था और साहब, लड्डन नवाब ने जो झल्लाकर पौनतावा जम्र से मैदान में उतारा तो बससारा शहर एक मुंह से यही कह उठा कि भाई, बाजी इस बार लड्डन नवाब के हाथ रहेगी. मगर वाह रे मेरे अब्बाजान. खुदा उन्हें जन्नत बख्शें, तीन दिन और तीन रात तक वह ऐसा नचाते रहे कि बस अब आपसे क्या अर्ज करूं. . . . . देखनेवालों ने अपनी-अपनी उंगलियां काट लीं. और फिर

"... क्या बताऊं हजरत, गरीब समझकर मैंने इसे पनाह दी, अपनी बीवी की तरह रखता हूं. मगर ..." वाजिदअली शाह की मुगलिया शान-शौकत को सपने के भ्रम की तरह पालते हुए नवाबी-आब के लोगों की जीवनशैली को रेखांकित करती एक संवेदनशील व्यंग्य-रचना...

चौथे दिन उन्होंने नवाब लड्डन को छकाकर वो कन्ने पर लपेट मारा कि पौनतावा सर-से गायब. . . यानी कि आप यकीन मानें, बड़े-बड़े सिन-रसीदा बुजुर्गवार भी कह उठे कि भई, ऐसे पेंच तो हमने जिंदगीभर नहीं देखे थे."

गर्ज की बातें करते हम लोग जकरिया स्ट्रीट तक पहुंचे ही थे कि एकाएक इस जन्नाटे से पानी आया कि बस आपको क्या अर्ज करूं. हम लोग एक दूकान के बरामदे के नीचे खड़े हो गये. अनकरीब पंद्रह मिनट तक हम लोग वहीं खड़े रहे. आखिरकार नवाब साहब ने ऊबकर कहा, "आइए जनाब, अब हम लोग यहां कब तक खड़े रहें? इसी बिल्डिंग के तीन तल्ले पर मेरे एक अजीज रहते हैं. चलिए, वहीं आराम किया जाये."

यह कहते हुए नवाब आगे बढ़े, मैं भी उनके पीछे ही पीछे चला. दो-तीन सीढ़ी घूमकर एक कमरे के दरवाजे पर खड़े हो नवाब साहब ने आवाज लगायी, "अमां बच्छन हैं?"

अंदर से एक लड़के ने जवाब दिया, "जी, आ रहा हूं अब्बाजान."

निहायत गुस्से में नाक-भौं सिकोड़कर नवाब साहब ने अपनी छड़ी दरवाजे पर ठोंककर कहा, "लहौलविलाकूवत? अबे चुप!"

बच्छन ने दरवाजा खोलते हुए नवाब साहब से कहा, "ऐ अब्बा, आज जरी चुपके से रहियेगा. अम्मीजान आज बड़ी खफा हो रही हैं."

मैं नवाब साहब के पीछे खड़ा था. इसलिए पहली झलक में बच्छन शायद मुझे देख न पाया. नवाब बच्छन साहब छह पैबंदों से जुड़ा हुआ मैला पाजामा पहने हुए, नंगे बदन, गले और बांहों में आठ-दस गंडे तावीज बांधे खड़े थे.

नवाब साहब ने झल्लाकर फरमाया, "अबे चुप, अम्मीजान का बच्चा कहीं का. मैं क्या कोई तेरा सचमुच का बाप हूं?"

एकाएक घर से एक तेज आवाज सुनायी पड़ी, "ऐ, मैं कहे देती हूं, जो तुम मुझे इस तरह कोसोगे तो अच्छा न होगा. ऐ-हां, ये तुम्हारे लड़के नहीं तो कहीं गैब से आये हैं."

नवाब साहब खड़े-खड़े गुस्से से कांप रहे थे कि अंदर से रोते हुए बेगम ने फरमाया, "उई अल्लाह, तुमने मुझे कैसी आफत में फंसा दिया. तीन-तीन दिन से फाके करो और ऊपर से ये गालियां सुनो. . ."

नवाब साहब गुस्से से तिलमिला रहे थे कि मैंने उनकी पीठ पर निहायत मुलायमियत के साथ हाथ रख अर्ज किया, "अच्छा, अब इजाजत दें. मुझे जरा एक काम है. फिर कभी. . . "

नवाब साहब ने झेंपते हुए मेरा हाथ पकड़कर निहायत खिसियायी हुई आवाज में कहा, "जाइयेगा! अच्छा. . . देखिए कुछ खयाल न कीजियेगा हजरत."

सीढ़ी तक मुझे पहुंचाने आकर नवाब साहब ने धीरे से कहा, "क्या बताऊं हजरत, गरीब समझकर मैंने इसे पनाह दी, अपनी बीवी की तरह रखता हूं मगर. . ."

बात काटकर, हाथ छुड़ाते हुए मैंने अर्ज किया, "मैं सब समझता हूं, लेकिन आप मेरी तरफ से इतमीनान रखें."

कहते हुए मैं नीचे उतर आया. □

जुलाब की गोली

"कल तो जनाब वो हंगामा मच गया कि उफ! उफ!! अजी बस, पूछिए मत! . . . वह तो कहिए कि खुदा ने कुछ नजरबंद से बचा ही लिया. . . मौके पर हम न थे. . . वरना तलवारों पर मूंछें ही बचतीं या धड़ों पर सिर ही सलामतियां मनाते नजर आते."

'सुना साहब चौक में गुल खिला.' एक ने कहा, 'कोठा उलट गया.' दूसरे ने उसमें कुछ सुधार किया, कहने लगे, 'अजी नहीं भाईजान, उलटा नहीं, बस उलटकर रह गया.' तीसरे तशरीफ लाये, दिल पर हाथ रखा, जरा-सी एक सर्द आह खींची, कुछ आंखों में नमी थी, कुछ गले में गुबार उभरे थे, बोले, 'हाय! छुन्नन कोठे से गिर पड़ी. बीच-बाजार में कई सिरों पर गिरी. दिल था सो उछल के निकल पड़ा, आंखें जो फिरीं तो फिर मिलना नसीब न हुआ, धुरपद का खयाल गले में अटक के ही रह गया. उसके सच्चे आशिकों ने जो सुना तो इस वक्त खबर यह है कि अपने-अपने घरों में उनकी लाशें फांसी में लटक रही हैं.'

"बी छुन्नन का नाम! और हमारा नाम उसके आशिकों की लिस्ट में. अजी सुनना था कि दिल पे बन आयी. अब लाख-लाख सर्द आहें निकालने की कोशिश कर रहे हैं. आंखों में सावन-भादों बसाना चाहते हैं, मगर जान है कि कम्बख्त निकलने को नहीं आती. इधर आशिकों के नाम पर बट्टा लगता है, और घर में फांसी लगाने लायक जगह नहीं. इरादा यह भी हुआ कि खबर लानेवाले साहब को हलाल करके रख दें. सरकार खुद ही हमारे लिए फांसी का इंतजाम कर देगी. वह तो कहिए कि हजरत किस्मत के धनी निकले. हम पैदाइशी बेकार हैं, सब्जी बनती ही नहीं, घर में छुरी रखी ही किसलिए जाये? और अब तो खुदा के फजल से चेहरे पर नूर भी है. पनामा ब्लेड क्या, उसकी एक किर्च भी पास में नहीं. बच गये".

"गम का यह हाल कि उमड़ता ही चला आया, गोया समंदर हो और हम थे कि उस जमाने की याद कर-करके मजनूं हुए जाते थे. जब जवानी का नया दौर ही चला था और छुन्नन का नाम हमारे कानों में बंसी की तरह बजता था—एक दिन महफिल में छोटे नवाब की बदौलत दूर से देख भी लिया था और सीने में एक लोटन-कबूतर पाल लाये थे. . ."

"वो उसके जिगर को चीरकर निकली हुई चीख! हाय! एक-एक लफ्ज अब तक मिस्ले-तावीज दिल पर नक्श है."

'. . .तुम अइयो कान्हा नदिया किनारे मोरा गांव.'

"अजी गया; मगर जाने से क्या होता है. . . चौक के चौराहे पर पनवाड़ी की दूकान के सामने दुन्नी उस्ताद मिल गये. उनसे कहा कि भई तुम दो दिलों को जोड़ने के लिए सरेस बन जाओ. बोले—मियां, सोना महंगा है, पचास का भाव है, दस-पांच और लगे-लिपटे में."

"मन मसोस के रह गया. बेकारी तीन पुश्त से विरासत में चली आ रही है. हम तो खम ठोंक के सरे-बाजार पुकारते चलते हैं कि हमें कोई ऐरा-गैरा न समझना, खानदानी बेकार हैं जनाब. कभी हमारे पुरखे भी गोटे-पट्ठे का काम करते थे. एक ही कारीगर थे. एक-एक गुलबदन निखर उठती थी. मगर जनाब, अब तो न गुल है न गुलाब है, फकत लेडियां हैं. गोटे-पट्ठे ठंडे पड़ गये, लिपस्टिक की आमद में पान की लाली मुरझायी, केले की सिल्क चली और दस्तकारी साफ. अब तो हाल यह है दादियों के मुंह से उस जमाने की गफ्तें सुनते हैं; कभी-कभी चूल्हे की

इस बीच में जनाब, दरवाजे की पीछे फिरोजाबाद की कारगरी झुनझुना उठी. पहले एक आवाज ने होश फना किये, फिर एक गोरे-से हाथ ने निकलकर मेरे दिल की हरकत बंद की. हाथ में एक खत था, जो मुझे पढ़कर सुनाने के लिए दिया गया. खत जो पढ़ने लगा तो दिमाग की बातें झनझना उठीं. धीरे-धीरे . . . क्या अर्ज करूं. . . !—कोठों के संदर्भ में पनपती जीवन की विसंगतियों को उजागर करती व्यंग्य-रचना . . . .

खुराक के लिए पुराने बेल-फूलों के बचे-खुचे ठप्पे निकालते हैं तो वाजिद-अली शाह के जमाने के 'घुन' सन् सत्तावन के गदर की याद कर बिल-बिलाते हुए चूल्हे के जोशो-जज्बात से दूर भागते हैं. . ."

"बताइए फिर भला छुन्नन हमारे पास क्यों कर आती?". . .

"एक बार सुना कि संबलिया नवाब की बारहदरी में छुन्नन छूम-छनन करेगी. धक्के खाये, गले में हाथ पड़े; वो प्यारी-प्यारी आवाज नसीब कहां, दरबान की गालियां अलबत्ता सुनीं. मगर वाह रे हम, किसी का एक भी मर्रा न चला. वहीं दीवार में दुबककर बैठे रहे. वो चिल्ले की रात फकत मजलिसी-रईसों के कीमती गर्म कपड़ों का ध्यान करके काट दी. बीच-बीच में छुन्नन के सुरीले गले की दाद जब दी जाती तो हम जी उठते. तबीयत इस तरह बाग-बाग हो उठती, कि हम गोया अपनी खास बीवी की ही तारीफ सुन रहे हों. . ."

"तारों ने झपकी ली और महफिल उठी. रईस रुखसत हुए और हमारी आंखें बी छुन्नन के इंतजार में छिप गयीं. चिड़ियों ने चहकना शुरू किया. नवाब छुन्नन को डोले तक खुद पहुंचाने तशरीफ लाये. हमने झुककर सलाम किया. नवाब समझे, हमने उनकी इज्जत बढ़ायी. उन्होंने जवाब दिया. बी छुन्नन ने तभी एक बार हमसे भी नजरें मिलायी थीं. . ."

"वो दिन है और आज का रोज. . . कलेजे में जो तीर धंसा तो अब निकलता ही नहीं. अब ये खबर जो सुनी तो क्या नाम है कि उस्ताद के कलाम का निचोड़, कि मौत तो किसी न किसी दिन आ ही मिलेगी मगर रात की नींद तो हमारे लिए छुन्नन हो गयी!"

"गम किसी तरह भी गलत ही न हो. इरादा किया, जाकर आखिरी बार की झांकी लें, मगर सुना कि लाश कोठे पर उठ गयी. बात सुनने के लिए जो सिर उठाया था सो उठाये ही रहे. फिर एक बात दिमाग में आयी तो खुद उठे. गिड़गिड़ाते हुए जाकर बेगम से कहा, 'एक चवन्नी दे दो.' बेगम खुदा जाने क्यों, उस दिन मुझ पर मिहरबान थीं या क्या. . . बहर-हाल बात-बात में चहकी पड़ती थीं! गमककर उठीं. पहले पान की दो बीड़ियां लगाकर खिलायीं, फिर कमर से बटुआ निकालकर चार चेहरेशाही पकड़ा दिये. . ."

"अजी, जिंदगी में न कभी देखी न सुनी. ऐसी सखावत कि राजा करन भी मात. अब साहब गम को तो किया जेरे-पाकिट और चमक के पूछता हूं, "बेगम, मुझे. . .?"

'मुस्करा के बोलीं, हां.'

"अब हम हैं कि कलेजा थामे खड़े हैं और लक-लक बेगम के चेहरे पर आंखें चिपकी हैं."

"और कैसे अर्ज करूं कि अपने मुंह से कहते शर्म आती है. आप कहेंगे कि अपने माल की आप तारीफ की. मगर असलियत यह है कि अगर तवायफ होती तो हिंदुस्तान के नौजवान कट मरते और शाहजादी होती तो अब तक दुनिया के शहंशाह कब्रों में आराम फरमाते होते. मगर किस्मत तो हमारी खुलने की थी कि अगर आज इससे शादी न होती या इसका ऐसा इखलाक न होता तो हजरत, आज हमको कब्रिस्तान की जमीन नापे बरसों गुजर गये होते. कुछ उसी की किस्मत है कि इज्जत की दो रोटियां मिलती हैं. कभी गुनगुना देती है तो राग-रागनियां हाथ बांध-कर खड़ी हो जाती हैं. जब हंसती है तो यकीन मानें बिजली झेंपकर रह जाती है. खानदान इतना ऊंचा कि बड़े-बड़े नवाब उसके रिश्तेदार. . . कोई चचाजाद तो कोई बुआजाद भाई. रोज ही कहीं न कहीं जाना-आना. हम गरीब हैं इसलिए बहुत से नवाब छिपकर हमारे यहां आते हैं. कुछ न कुछ अपनी बहन को दे-ले जाते हैं. यह जनाब उसका इखलाक है कि बड़े-बड़ों को घसीट लाता है. समझे कि नवाब छुट्टन और नवाब बच्छन और नवाब अच्छन और छोटे नवाब और कल्लन नवाब और बड़े-बड़े खांबहादुर और डिप्टी कलक्टर गर्ज कि कच्चे धागे में चले आते हैं सरकार बंधे. सलीके और फैशन की तो यह हालत है कि जब कभी दिल खुश करने के के लिए ऊंची एड़ी का जूता पहन, घर में छाता तानकर खड़ी हो जाती है तो बड़ी-बड़ी लेडियां उसके आगे पानी भरें. वैसे देखने में कुछ नहीं, एक फकत जरा-सी जुलाब की गोली-सी है. कोई देखे तो कहे, ज्यादा से ज्यादा साढ़े बारह बरस की होगी. मगर हमारा दिल तो छुन्नन के छपके में बिंधा है भाईजान, बेगम की तरफ कुछ खयाल ही कम जाता है". . .

"तो जनाब, जो उसने चार रुपये मुझे टिकाये तो मैं हक्का-बक्का हो पूछ बैठा, "बेगम, आज इतनी इनायत क्यों?"

"बोलीं, वो कलमुंही छुन्नन सुना कोठे से गिरी और कालामुंह कर गयी. अब गुल्लन भाईजान के सिर की बला टली. मैं खुश हूं."

"मैं समझा. नवाब गुल्लन साहब भी बेगम के मामूजाद भाई हैं. छुन्नन पर जी-जान से फिदा. उनकी तमाम दौलत मेरी जान के कोठे में खिसकी जाती थी. इसे कुछ न कुछ मिलता था. इसी से बेगम छुन्नन से कटती थीं. मेरे दिल पर चोट तो लगी, मगर चुप रहा. . ."

पूरे दो घंटे बाद मियां की ट्रेन रुकी. यह कोई एक हफ्ते पहले की बात है. कंपनी बाग में कोने की बेंच पर बैठा एक मजमून लिख रहा था. अचानक यह महीन-से मियां तशरीफ लाये. पहले कुछ तकुल्लुफ किया. बेमौके आ टपकने की मुआफी मांगी. मगर मजबूरी जाहिर की—दिमाग परेशान होने की वजह से वह भी सन्नाटे की जगह बैठकर ठंडे होना चाहते थे. बेंच के एक कोने में बैठने की इजाजत मांगी. फिर किस्से शुरू किये और फिर धीरे-से इस आशिक-बयानी पर उतर आये.

थोड़े ही में कह दूं, हजरत मुझसे फिर इस कदर खुश हुए कि उसी वक्त अपने घर चलने के लिए मजबूर किया. कहने लगे, "अगर आप तशरीफ न ले चले तो मैं समझूंगा कि गरीबों का दुनिया में कोई नहीं."

लिहाजा साहब, मैं गरीबों का सब कुछ बन उनके दौलतखाने पर गया. गली, मकान सब कुछ वाजिब ही वाजिब था. मगर हम थे कि कुछ तकल्लुफ में बैठे बातें कर रहे थे. एकाएक हजरत दो मिनट की इजाजत लेकर कहीं बाहर गये.

इसी बीच में जनाब, दरवाजे के पीछे फिरोजाबाद की कारीगरी झुनझुना उठी. पहले एक आवाज ने होश फना किये; फिर एक गोरे-से हाथ ने निकलकर मेरे दिल की हरकत बंद की. हाथ में एक खत था, जो मुझे पढ़कर सुनाने के लिए दिया गया. खत जो पढ़ने लगा तो दिमाग की बातें झनझना उठीं.

. . . धीरे-धीरे. . . क्या अर्ज करूं. बस, यही समझ लें कि अब मैं भी मियां की बेगम के रिश्तेदारों में हूं. हफ्ते-भर में तीन बार तो अपनी इस खालाजाद बहन से मिल आया हूं. रिश्तेदारी दिन-ब-दिन रंग पकड़ रही है जनाब! □

अमृतलाल नागर प्रियजनों की नजर में : चार

मेरा कलाकार नागरजी का ही दिया हुआ है. . .

विजय बोस

हिंदी में टाइप किया हुआ आपका पत्र मेरे सामने है. . . और नागरजी मेरे दिमाग में हैं. सच, मैं नागर-जी को तबसे जानता हूं—जब हिंदी टाइपराइटर नहीं निकला था. सन् पचास के बाद की पीढ़ी यह तो जानती है कि नागरजी कथाकार, उपन्यासकार और नाटककार हैं, लेकिन यह नहीं जानती होगी कि वह कुशल अभिनेता और निर्देशक भी हैं. यह कहना बड़ा मुश्किल है कि नागरजी लेखक के रूप में अच्छे हैं कि अभिनेता या निर्देशक या इंसान के रूप में अच्छे हैं. दरअसल, ये सारे रंग इंद्रधनुष के हैं.

मैं सन् 1947 में आकाशवाणी लखनऊ में कैजुअल ड्रामा आर्टिस्ट चुन लिया गया था. अवस्था रही होगी यही कोई 19 वर्ष. बिना किसी सिफारिश के मैंने ध्वनि परीक्षा पास कर ली तो हौसला बढ़ गया. अक्सर किसी न किसी नाटक में भाग लेने का बुलावा आने लगा. तभी एक दिन मुझे पता चला कि मुझे अमृतलाल नागर के नाटक में भाग लेना है, और नाटक का निर्देशन नागर-जी स्वयं करेंगे. तब तक नागर-जी के बारे में मैंने सुना ही सुना था उन्हें देखा नहीं था. हां, उनकी रचनाएं खूब पढ़ी थीं. इसलिए मन में मिलने की उत्कंठा थी.

वह घड़ी भी आयी. पहली रिहर्सल के लिए नागरजी पधारे. कलाकारों से उनका परिचय कराया गया. मैं उनके लिए बिल्कुल नया था. मेरा नाम सुनकर पहले वह बुदबुदाये—विजय बोस. फिर मुस्कुराये और मेरी ओर देखकर बोले, "कलकत्ते के तो नहीं हैं?" मैंने कहा, "जी नहीं, उत्तरप्रदेश-वाला हूं. . . शिक्षा-दीक्षा लखनऊ में ही हुई है." नागरजी बोले, "तब ठीक है. प्रवासी बंगाली तो अशोक कुमार भी हैं. एस.एन. बैनर्जी भी हैं. क्या सलीके की हिंदी बोलते हैं." फिर ढेरों बातें दोनों फिल्मी कलाकारों के बारे में बतायीं. दोनों की प्रशंसा की.

रिहर्सल शुरू हुई. पहले उन्होंने नाटक की रीडिंग करायी. फिर स्क्रिप्ट ठीक करायी. हम लोग पैंसिल द्वारा कार्बन लगाकर कापी करने में जुट गये. जब तक मैं कार्बन-कापी करता रहा, बरा-बर यह महसूस करता रहा कि घूम-फिरकर नागरजी मेरे ही पत्रों को निहार रहे हैं. बाद में यह बात खुल भी गयी, जब उन्होंने यह कहा कि भाई मैं सोच रहा था कि बोलने में तो आप शुद्ध-शुद्ध बोल लेते हैं, लेकिन क्या लिखने में भी शुद्ध हिंदी लिख लेते हैं. सचमुच, मुझे आपकी लिखावट से काफी संतोष मिला.

मेरे पात्र की वायस-ऐज थी लगभग 20 और 25 वर्ष के बीच के युवक की. रेडियो नाटक के कलाकार की वास्तविक उम्र चाहे जो कुछ भी हो पर आवाज पात्र के अनुरूप होनी चाहिए. जब मेरा नंबर आया तो मैंने अपने-आपको बिल्कुल गीली मिट्टी के रूप में नागरजी के सामने प्रस्तुत किया, इस आशा और विश्वास के साथ कि मुझे गढ़ो और ढालो अपने वास्तविक चरित्र के सांचे में. एक बार नागरजी ने मेरा रोल स्वयं किया फिर अपने साथ-साथ वही रोल मुझसे कराया और तीसरी बार मैंने रोल स्वयं अकेले किया. नागरजी ने मेरी पीठ थपथपायी, "शाबाश. . . बहुत अच्छे!" उन दिनों नाटक सजीव यानी लाइव ही प्रसारित हुआ करते थे. वह नाटक भी सजीव ही प्रसारित हुआ. पूरी टीम ने अच्छा काम किया था. मेरे आश्चर्य का ठिकाना नहीं था कि अकेले एक आदमी में इतने सारे चरित्रों का समावेश कैसे हो गया है—क्योंकि हर चरित्र की वास्तविक भूमिका करके नगरजी ने हम सबको अभिभूत कर दिया था. उस दिन मुझे यह विश्वास हो गया कि सचमुच नागरजी अपने-आप में एक रंगमंच हैं. पता नहीं, क्यों उस नाटक से मैं नागरजी को इतना भा गया कि उसके बाद और भी दो नाटक नागरजी ने प्रस्तुत किये और उन दोनों में ही मुझे रखा. इसके बाद मैं फरवरी 1949 में, आकाश-वाणी इलाहाबाद में विभागीय

कलाकार (ड्रामा वायस) के रूप में नियुक्त हो गया. नागरजी का संग-साथ छूट गया. हालांकि इलाहाबाद शहर भी उन दिनों साहित्यिक-सांस्कृतिक हलचल का मुख्य केंद्र बना हुआ था, फिर भी नागरजी की कमी मुझे खटकती थी. . . लेकिन तुलसी दास ने जो लिखा है—'जेहि पर जाकर सत्य नेहू, मिलहिन सो तेहि कछु संदेहू.' वही हुआ.

सितंबर सन्, 1955 में महा-देवी वर्मा, उमा राव, स्व. सी. बी राव और इलाहाबाद के अनेका-नेक साहित्यकारों ने मिलकर एक नाट्य संस्था को जन्म दिया. नाम रखा 'रंगवाणी'. संस्था की ओर से पहला नाटक भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र की जन्मशती के उपलक्ष में खेलने की बात तय हुई. यह भी तय हुआ कि यह नाटक भारतेंदुजी के जीवन पर आधारित होगा. इसके लेखन और निर्देशन का भार सौंपा गया नागरजी को. निश्चित समय पर नागरजी नाटक सहित इला-हाबाद पधारे. छह-सात वर्षों के अंतराल के बाद भी नागरजी के दिल-दिमाग मे मेरा नाम था. उन्होंने आते ही 'विजय बोस' को यानी मुझे बुलवाया. नागरजी से मिलते समय मुझे लगा, मैं अपने पैतृक स्थान, जिसे छोड़ आया हूं, लखनऊ से मिल रहा हूं. बहुत देर तक बातें होती रहीं. . . और बात ही बात में नागरजी ने मुझे भारतेंदु हरिश्चंद्र का रोल दे दिया.

नाटक के लिए नागरजी ने जितनी मेहनत की वह इलाहबाद के रंगकर्मी आज भी नहीं भूले हैं. और यह रिकार्ड अभी भी कायम है. तब इलाहाबाद में हिंदी रंगमंच इतना विकसित नहीं हुआ था, लेकिन केवल अपनी सूझ बूझ और मेहनत की बदौलत नागरजी ने चार चांद लगा दिये कि बरबस लोगों की आंखें खुली की खुली रह गयीं. कई दर्शकों ने तो यहां तक कहा कि नागरजी लखनऊ के हो ही नहीं सकते. बनारस के बारे में इतनी बारीक जानकारी रखने का मतलब है कि नागरजी बनारस से जुड़े हैं. मगर बहुत कम लोगों को यह पता होगा कि जब भारतेंदु बाबू पर नाटक लिखने का प्रस्ताव नागरजी के पास गया तो स्वीकृति तो उन्होंने तुरंत दे दी, लेकिन दूसरे ही दिन बिस्तर-बंद बांधकर बनारस रवाना हो गये. . .सिर्फ यह जानने और समझने के लिए कि बनारस है क्या! उसकी आत्मा कैसी है, उसकी वास्तविक पहचान क्या है और भारतेंदुजी ने कैसे जिया बनारस को? अव्यवसायिक मंच की उन तमाम कठिनाइयों को, जिनसे ज्यादातर लोग भाग खड़े होते हैं, नागरजी ने हंसते-हंसते सुलझा दिया. बनारस के बाजार का सीन जिस भांति उन्होंने जाली के पर्दे पर चित्रित करवाकर, उचित प्रकाश व्यवस्था से प्रस्तुत कर दिया कि लोग दांतों तले उंगली दबाये रह गये.

सच पूछिए, तो मेरा 'कलाकार' नागरजी का ही दिया हुआ है. मैं 'विजय बोस' तो दुनिया के लिए हूं, लेकिन मेरा कलाकार 'विजय बोस' केवल नागरजी का आशीर्वाद है. नागरजी शतायु हों, यही मेरी मंगल कामना है. □

अमृतलाल नागर की व्यंग्य-रचनाएं : तीन

नजीर मियां

"न कोई आल, न औलाद, न जोरू न जांता, न कोई शौक. क्या कहूं, पचास हजार की जायदाद हूं और यह दिल. . . हम हथेली पे लिये घूमते हैं. मगर कोई दिल का नाज उठानेवाली ही न मिली. यों माल हड़पने के लिए चोंचले सब दिखाती हैं."—व्यंग्यात्मक रूप से लिखा गया व्यक्तिचित्र जिसे पढ़ते-पढ़ते लगता है कि नजीर मियां तो मानो हमारे आसपास ही रहते हैं. . .

पहले तस्लीम करता हूं उस रब्बुल-आलमीन अलख-निरंजन को कि जिसके पास अब तलक रूसी-अमरीकी राकेट नहीं पहुंच पाये.

हजार बार अनगिनत सिजदे उस साईं सिरजनहार के नाम पर कि जिसने जगमग सितारों-जड़ा अनोखी आब व आनवाला ये अचंभे के बच्चे-सा खल्क रचा; उसमें हिंद जैसा मुल्क सरजा, उसमें माशूक की कनखियों जैसी आड़े-तिरछे छिलनेवाली बड़ी नाजो-अदावाली चंचल, शोख पतली कमर बल खाय कि तस्वीर खेंचती हुई जलपरी-सी गोमती नदी बनायी, उसके किनारे शहर लखनऊ बसाया, उसमें बाजार नखास आबाद किया और नखास में नजीर मियां को बेलगाम छोड़ दिया कि जिनका सिन सत्तर की ढैया छू रहा है और दिल अब भी सत्रह की अंगनाई में ही गिल्ली-डंडा खेलता है.

आज तक किसी ने न तो नजीर मियां की बोलती बंद होती देखी है और न ही पैर थमते देखा है. इनका अपना कोई नहीं मगर ये सबके हैं. जिंदगी बीत गयी. अपना कोई काम नहीं किया मगर गली के आठ-दस घरों के बड़े मियां हैं. किसी दुलहन, किसी बेटी ने बुलवाया कि नजीर मियां ये ला दीजिए और वो ला दीजिए, तो चौक, अमीनाबाद दौड़े जा रहे हैं, पुराने माशूकों के आटा-दाल, गेहूं-गोश्त ला रहे हैं. सब जनी कसमें दिला-दिला के कहती हैं कि नजीर मियां जल्दी लौट आइयेगा. सबको ये भी कसमें खा-खाकर यकीन दिलाते हैं कि जल्दी लौट आऊंगा, मगर गली-सड़क में आते ही बातों का ऐसा नशा चढ़ता है कि वक्त का ध्यान किस मरदूद को रहता है ! गली से बाहर आते ही दाहिनी ओर वाली बाजार की पांच दूकानों के ये नवाब-मुल्क हैं. वहां पचास काम निकल पड़ते हैं, पचास रोकने-टोकने-वाले मिल जाते हैं. फिर दुलहनें, बेटियां और माशूकाएं इनके नाम पर भले झीखा करें, घड़ी देखा करें, कोसें, झुंझलायें, मगर नजीर मियां बेचारे बेबस हो जाते हैं. क्या करें?

अभी पारसाल की बात है. करामात हुसैन की लड़कियों ने अमीनाबाद से कोर्स की किताबें लाने को कहा. 'हां, अभी लाता हूं.' में चार दिन टल गये. अजरा ने इन्हें घेरकर आंखों में आंसू भरकर कहा कि बड़े मियां, आज जरूर ले आइयेगा, वरना कल स्कूल में मेरी बड़ी किरकिरी होगी. नजीर मियां कसद करके निकले कि आज लेके ही लौटूंगा. लोगों से आमना-सामना बचाने की गरज से ही पिछवाड़े-वाली गली से ही होकर टाट-पट्टी यहियागंज नापते हुए, नादानमहल रोड से बस पर सवार हुए. इस तरह अमीनाबाद पहुंचकर तसल्ली हुई कि चलो, अब किताबें खरीदते क्या देर लगती है. किताबों की दूकान पर भीड़ में लाइन लगाकर खड़े हुए. पीछे एक जज साहब के अर्दली यारअली भी आ खड़े हुए. बिल्ले-चपरासवाले हमउम्र से नजीर मियां बातें किये बगैर भला क्योंकर रह सकते थे ? थोड़ी देर में सब कुछ पूछ डाला. मालूम हुआ यारअली का एक लड़का तो सेक्रेटेरियट में चपरासी है मगर दूसरे का कहीं डौल नहीं बैठा. वो बड़ा हुनरमंद है. उसने एक ऐसा खास जरूरत का नायाब साबुन बनाया है कि चमड़ी जलती नहीं और असर जादू का-सा होता है. कई चीजें बनायी हैं. यारअली ने इस धंधे में फायदा देखकर पांच सौ रुपया लगाया मगर अब वो फंसा है. क्योंकि लड़का बेचने का हुनर नहीं जानता. नजीर मियां छूटते ही बोले, "मैं बेच दूंगा. परसों इतवार है. नखास में मेला लगता है. सौ टिकियां तो उसी दिन बेच दूंगा. तुम बस सैनबोट बनवा दो मुझे. . . . .तबीयत का."

"मगर सैनबोट बनवाने में भी मियां कुछ वक्त तो आखिर लगेगा ही और इतवार तो परसों है."

नजीर मियां हंसकर बोले, "अजी, आपने भी क्या फिक्र पाली है. मैं कहता हूं, बिरादर, कि जरूरत के हिसाब से थैलियों का डांस पुरोगाम करवाते रहिए तो बारह घंटे में मैं चांद को धरती पर उतार लाऊंगा. ये सैनबोट क्या चीज है! रुपये पच्चीस खर्च होंगे आपके. आर्ट कालिज के डिजैन पर एक हसीना की फोटू बनेगी उसमें. माशूक छाप साबुन की खातिर किसी माशूक की फोटू भी होनी चाहिए. मैं बनवा दूंगा. इतवार की सुबह आप उसे सिकंदर आफ इंडिया की दूकान पर टंगा पायेंगे. पच्चीस रुपये ये और दस-पांच रुपये पन्नी कागज वगैरा. . ."

"अजी पैकिंग-वैकिंग सब बड़ी सुपर फैन किसिम की हुई है, पांच सौ टिकियां बनी रक्खी हैं. मक्खीमार पौडर भी तैयार है."

"अजी, तब तो जनाब यारअली साहब, आप नजीर मियां हुसैन को चुनौती दे रहे हैं. माशूक छाप साबुन और मक्खीमार पौडर बना के आपका लड़का बेकार रहे और वो भी इस खाकसार के रहते ! अजी खुदा चाहेगा तो परसों ही आपके हाथ में सौ नहीं तो पिछत्तर

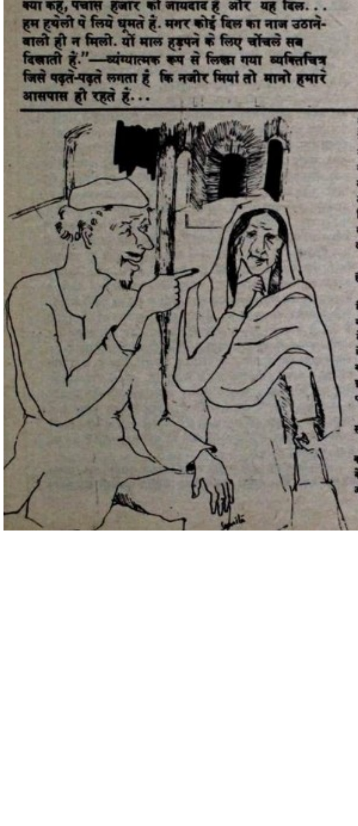

रुपये जरूर रख दूंगा. जो मुनासिब कमीशन हो वह दे दीजिएगा. चलिए अल्ला-अल्ला, खैर-सल्ला. और यह तो एक दिन की बात हुई जनाबेमन, खुदा झूठ न बुलवाये, एक महीने में इनकम-टैक्सवाला तुम्हारे पीछे-पीछे न दौड़ने लगे तो कहना. तुमने अभी हमें पहचाना नहीं है, अजीजमन !"

दुबले-पतले मुनहने-से नजीर मियां हैं मगर उनके बदन में बिजली दौड़ती है. जो बात कहते है वह उनकी आंखों में, चेहरे पर हाथ-पैर में अजो-अजो में तस्वीर बनकर फड़क उठती है. होंठों की दोनों कोरों पर नीचे की ओर झुकती हुई कत्थे की दो लकीरें मानो पैदाइशी निशान-सी ही चेहरे का एक अंग बन गयी हैं. उनका पान से सदा फूला रहने-वाला गाल और होंठो की ये लकीरें इनकम-टैक्सवाली बात कहते हुए अपनी शान जताकर इतमीनान दिलाने की अदा में कुछ यों उचकीं-खिचकीं कि यारअली को हंसी आ गयी. वे बोले, "तुम खूब मिले उस्ताद. अमां रहते कहां हो ?"

"नखास में. वहां जिससे चाहें पूछ लीजिए. आपको हर कोई मेरी हिस्ट्री बतला देगा. जनाब आबिद हुसैन साहब मरहूम, डिप्टी कलक्टर खुदा जन्नत में भी सदा उनका रुतबा बुलंद करे, मेरे वालिद थे. वालिदा मेरी यहां की मशहूर डेरेदार थीं. उन्हीं डिप्टी साहब ने एक मकान बनवा दिया था. उसी में सड़क की तरफ दो दूकानें भी हैं. घर की एक कोठरी में पड़ा रहता हूं. बाकी मकान किराये पर उठा दिया है. दूकानों से भी किराया आता है. अकेले दम के लिए बहुत काफी है. मैं तो कहता हूं हुजूरेवाला, ऊपरवाले का शुकर है, आज तलक किसी के आगे हाथ नहीं फैलाया. इसीलिए कहता हूं, भाईजान, जहां पांच सौ फंसे हैं वहां पच्चीस-तीस और फंसा दो. न उबरें तो बीच चौराहे पर मेरा हाथ पकड़ लेना. मगर उसकी आपको जरूरत ही न पड़ेगी. अल्लाह चाहेगा तो परसों करिश्मा दिखला दूंगा."

यारअली सोचने लगे, फिर दाढ़ी पर हाथ फेरते हुए कहा, "आप मेरे घर पर तशरीफ ले चलिए. तकलीफ तो होगी मियां, मगर वहां दोनों लड़के होंगे. सारा हेसनेस हो जायेगा."

नजीर मियां ने जोश में आकर कदम बढ़ा दिया. किताबों के लिए यारअली ने यह कहकर टाला कि इस वक्त भीड़ बहुत है, कल सुबह आकर ले जाऊंगा, तो नजीर मियां को भी शह मिल गयी. मन में अजरा का आंसू-भरा चेहरा और बार-बार आज ही ला देने का इसरार तस्वीर की गूंज बनकर समाया, चुभन भी हुई मगर नजीर मियां ने फौरन ही अपने तईं तसल्ली दी कि बस अभी लौटकर आता हूं. बातें करने में भला कितनी देर लगती है. ये गया और वो आया.

यारअली के घर में बातें करते और हुक्का-चाय पीते हुए वक्त गुजर गया. वहां से यारअली के दूसरे लड़के को साथ लेकर नखास में नवाबन के बेटे मुन्नेखां के घर पहुंचे. और कहा, "बरखुरदार, आज तुम्हारी सआदतमंदी का इम्तिहान है. मेरी तकदीर का सितारा परसों आसमान से उतरकर नखास में आ खड़ा हो जायेगा. लोग उसका करिश्मा देखेंगे. तू बस जरी मेरे सितारे के उतरने के वास्ते सीढ़ी बना दे."

मुन्नेखां 'मगर चचा, अजी चचा, सुनिए तो' करते ही रह गये, पर नजीर मियां से पार न पा सके. बोले, "ऐसी माशूक की फोटू बना दे बेटे, कि 'नाजो-अंदाजो अदा गम्जाओ, शोखी ओ हया. . . . . (औ') यक तरन्नुम के सिवा सब तेरी तस्वीर में' हो. तरन्नुम की कमी मैं पूरी कर दूंगा. न हो तो नन्हो की लौंडिया को सामने बुलवाके खड़ी कर ले. उसका एक हाथ कमर पर और दूसरे में माशूक छाप साबुन हो. आंखों में प्यासे प्याले दरसाना औ' होंठो की मुस्कराहट में दो बोतलों का नशा उंडेल देना, समझे मियां ? औ' ओढ़नी हवा में बड़े भाई डियर किसिम से फरफराये बरखुरदार, समझे ? बस, मेरा काम बन जायेगा. दो टिकिया साबुन की तुझे मुफ्त दिलवा दूंगा. अपनी ओर से नन्हो की लौंडिया को पेजेंट कर देना."

यारअली के लड़के से दस रुपये एडवांस दिलवाये. पांच का नोट अपनी तरफ से मौज करने के लिए दिया. नन्हो की लौंडिया बुलवायी गयी. नजीर मियां ने आप खड़े होके तमाम हाव-भाव, नैन-सैन बतलाये. बहरहाल, सनीचर की शाम को माशूक छाप साबुन का साइनबोर्ड बनकर तैयार हो गया. नीचे 'स्टाकिटस्ट, कलंदर सिकंदर आफ इंडिया, लखनऊ' भी लिखवा दिया गया.

कलंदर सिकंदर की दुकान इनका खास अड्डा है. वे इन्हीं के किराये-दार हैं. कलंदर सिकंदर चार भाई थे. मुल्क के बंटवारे दो पाकिस्तान चले गये तो नजीर मियां ने इनके नाम के आगे 'आफ इंडिया' जोड़ दिया. तब से उनकी पंसारी की दूकान का नाम भी यही पड़ गया है. उनकी दूकान क्या है मानो रंग-बिरंगे साइनबोर्डों की नुमाइशगाह है. तीन दर की दुकान पर छोटे-बड़े सब मेल के करीब पंद्रह-सोलह साइन-बोर्ड लटक रहे हैं. छोटे भाई सिकंदर मियां को इसका खब्त है, माल उसी कंपनी का बेचते हैं जो उन्हें तस्वीरोंवाला साइनबोर्ड देता है. पासिंग शो सिगरेट का टोपदार साहब, पहलवान छाप बीड़ी का पहलवान , लाइफबाय साबुन लगाकर नल के नीचे नहाता-मुस्कराता लौंडा, एक सौ इकतीस नंबर की बीड़ी फूंकती और आंख मारती हुई हसीना, लंगूर छाप खिजाब का लंगूर, गरज कि आर्ट के नवाब नमूने वहां लटके हुए हैं. इतवार की सुबह सात बजे सब साइनबोर्डों के ऊपर माशूक छाप साइनबोर्ड भी चढ़ गया.

इतवार का रोज अल्लाह मियां की तरफ से खासतौर पर नखास के लिए ही मुकर्रर किया गया है. उस दिन लखनऊ के तमाम अकलमंद लोग, कबाड़ियों-डीलर, गरीब शौकीन और देहाती लोग-लुगाइयां नखास में इस तरह अटाटूट भर जाते हैं गोया नखास दिल हो और उसमें वे अरमानों की भीड़ बनकर समाये हुए हों.

सुबह आठ बजे से ही भीड़ बढ़ने लगी, रौलचौल शुरू हुई. फुटपाथ की दूकान पर बिकनेवाले मुर्गे अपनी पुरानी साथिनों से आखिरी रोमांस लड़ाने लगे. कबूतरों की गुटरगूं और तोते, मैनों, तीतरों, लालों, बटेरों और चकोरों—तरह-तरह के पंछियों की रंगारंग चहचहाहट ने धरती के उस टुकड़े का आसमान सिर पर उठा लिया और जब नन्हें परिंदों से इतना बोझ संभल न सका तो नजीर मियां ने लाउडस्पीकर हाथ में लेकर माशूक छाप का नारा बुलंद किया. भीड़ उनकी तरफ खिंचने लगी. सिकंदर की दूकान के आगे टीन की कुर्सी पर खड़े होकर नजीर मियां चहकने लगे, "अहा-हा-हा-हा ! हाजरीन शायकीन,गुलंदाम, गुलबदन जानेजहां कत्ताले आलम आशिकोमाशूक ! चले आइए, चले आइए. . . . ए हजरात, यह वो नखास है जहां कभी घोड़े बिकते थे लेकिन अब लोगों का नसीबा बिकता है. जो खुशनसीब हैं वही नखास में आते हैं, सैकड़ों का माल टके-टके में ले जाते हैं. हजरात, ये वो नखास है कि जिसकी शान में फिरदौसी तक कह गया है कि 'अगर फिरदौस, बरुये जमींअस्त, नखासअस्तो, नखासअस्तो, नखासअस्त.' देहली के बादशाह से जब लखनऊ की यह रौनक देखी न गयी तो देहली के लाल किले में नखास की टक्कर का दीवाने खास बनवाया और फिरदौसी के शेर में थोड़ा-सा फेर-फारकर वहां लिखवा दिया. मगर हजरात, जमाना जानता है, अजी मैं कहता हूं कि हिस्ट्री-तवारीख गवाह है कि दीवाने-खास सूना हो गया मगर नखास में अब तक रौनक है. अजी लोग टके-टके में अनमोल किताबें यहां से ले जाते हैं. पालने और खाने के लिए मुर्गे और बकरे, चहकाने के लिए लालो बुलबुलो-बटेर, रिझाने के लिए लहंगा-ओढ़नी, टिकली-बिंदी और रीझने के लिए माशूक छाप साबुन तक सब कुछ यहां सस्ते दामों में मिलता है. यहां जो चीज बिकने आती है वह खुदाई मेहर होती है और जो खरीददार आते हैं उन पर खुदा मेहरबान होता है."

गरज कि दोपहर होते न होते नजीर मियां ने माशूक छाप साबुन की धूम मचा दी. बाइयां मुगलानियां आतीं, बुर्केवालियां नकाब

साध अब पूरी हुई...!

सारिका के सितंबर, 1962 के अंक में अपनी आकांक्षा व्यक्त करते हुए अमृतलाल नागर ने लिखा था—

'मेरी एक तमन्ना जरूर है, एक दिन अपनी किताबों की रॉयल्टी पर ही निर्वाह करने लायक बन जाऊं. जी चाहने पर किताबें खरीद सकूं, घूम सकूं.'

'सारिका' में तेईस वर्ष पहले छपी इस साध के बारे में नागरजी से पूछना नेक खयाल ही था, सो पूछ ही लिया. अब जो जवाब आया, आपके सामने हाजिर है—

'तेईस वर्ष पहले मैंने 'सारिका' में जो इच्छा व्यक्त की थी, वह ईश्वर की कृपा से पूरी हुई. मैं अपनी रॉयल्टी की आमदनी से ही अपना जीवन-यापन कर रहा हूं.'

मैंने पढ़ने-लिखने के अतिरिक्त जीविकार्थ कोई अन्य काम नहीं किया. रॉयल्टी की आय से ही यथाशक्ति कुछ किताबें भी खरीद लेता हूं और आवश्यकता पड़ने पर यात्रा भी कर लेता हूं. यह बात दूसरी है कि कोठी या कार आदि नहीं खरीद सका. फिर भी संतुष्ट और मन से सुखी भी हूं. 'सत्य श्रमाभ्याम् सफलार्थ सिद्धिः"

—विश्वंभर 'अरुण' को लिखे गये पत्र से

उठाये या गिराये हुए गुजरतीं, देहातिनों के रेले आते और उन्हें देखते ही नजीर मियां वो फब्तियां कसते कि भीड़ में ठहाके उमड़ पड़ते, सुननेवालों का जी लहालोट हो जाता. ढाई बजे तक नजीर मियां ने निन्नानवे टिकियां बेंच डालीं, एक बी हैदरी के लिए बचा ली. इकन्नीवाले मक्खीमार पाउडर के ग्यारह दर्जन पैकेट बेचे. जब पैसे दिये तो यारअली का लड़का पांव पकड़ने लगा. यारअली के लड़के को चौकस हिसाब दे और अपना कमीशन लेकर नजीर मियां पलभर भी न रुके, अजरा की किताबें लाने के वास्ते अमीनाबाद की ओर लपके. किताबों के साथ पांच रुपये के रसगुल्ले अपनी तरफ से ले गये. लड़कियों को मना लिया.

इन्हीं गलियों और इसी सड़क पर नजीर मियां बच्चे से बड़े मियां हुए हैं. नब्बू पानवाला और सिकंदर कलंदर तो इन्हीं के किरायेदार हैं. उनका भला तो ये चाहते ही हैं. पड़ोस के हबीब चायवाले, यूसुफ हलवाई और सिरीकिशन साइकिलवाले के भी ये खास सगे हैं. यों इनका अड्डा सिकंदर कलंदर की दूकान है मगर 'हबीब रेस्टूरेंट' में भी बैठा करते हैं. सिकंदर की दूकान पर सौदा-सुलुफ लेने के लिए आनेवाली औरतों-महरियों से छेड़छाड़ किया करते हैं. सड़क से गुजरते इक्के-तांगों-रिक्शों पर जनानी सवारी देखी नहीं कि उधर ही ताकने लगे. अपने-आपको हुस्न का जौहरी कहते हैं. इसी आदत की बदौलत दो-एक बार पिटे भी हैं.

नजीर मियां माशूकों के पीछे सदा बदहवास घूमे मगर अक्ल के पीछे लाठी लेकर न पड़े. पहुंच के बाहर की औरतों की बेबसी में सराहते जरूर हैं पर जहां बराबर की जोड़ होती है वहीं बुढ़भस की लार टपकाते डोलते हैं. दिन-रात मजनूं की तरह वस्ल और हिज्र के गीत गाते हैं. मलाई के चप्पन, रबड़ी के दोने, साबुन, तेल, इत्र, गजरे लिये खुशामद में दौड़ते हैं. जहां दांव लग गया वहीं महीने-दो महीने दिलोजान निसार किया, बुझते दिये की तेज लौ के मानिंद अपनी हविसों का खिलवाड़ किया, मुनासिब पैसे भी खर्च किये मगर फिर कहीं और बहके.

फिलहाल छह महीने से गुलाबबाड़ी के अख्तर नवाब की एक बेवा महरी हैदरी का कलाम पढ़ रहे हैं. खुद ही कहते हैं कि हैदरी जादूगरनी है वरना इतने दिनों तक कोई उन्हें बांध नहीं सका. ये उसकी खिदमत में लगे रहते हैं और वह इनकी. हैदरी से भी पहली मुलाकात यहीं कलंदर सिकंदर की दूकान पर ही हुई थी. पचास-पचपन का सिन मगर नाक-नक्शा ऐसा सुडौल कि हुस्न के जौहरी नजीर मियां चुप न रह सके. धीरे-धीरे दूकान की पटरी पर उसके पास आकर बैठ गये और प्यासी नजरों से निहारते हुए आशिकों की गुटरगूं बोली में पूछा, "बी महरी, रहती कहां हो?"

बी महरी भी कम रंगीन न थीं. इनकी नजरों का भाव ताका और मुस्कराकर कहा, "इसी जमाने में, और कहां रहूंगी?"

नजीर मियां फड़क उठे, बोले, "तुम्हारा जमाना तो इंशा अल्लाह अब आयेगा. नजरबद्दूर अभी तो खिलती कली हो."

"ऐ वाह मियां, नजर बड़ी तेज है. दूर की देखते हो. जरा कबर लटकते अपने पांवों को भी निहार लो."

"अमां वहां तो तुम्हें देखने के पहले देखते ही थे मगर अब तुम इन्हें सुबू-शाम कूचए-जानां में गश्त लगाते देखोगी. लाओ, मैं पहुंचा दूंगा. मेरे रहते भला तुम बोझा उठाओगी?" कहते हुए गठरी उठा ली और आगे बढ़े. बी महरी तेज हुईं, तेजी से लपकीं, गठरी छीनने लगीं. उधर से हबीब ने तालियां बजायीं, "चचा ले भागे." आसपास लोगों के ठहाके पड़े. बी महरी के अधेड़ चेहरे पर शर्म की लहर यों दौड़ी मानो तेज हवा में झोंके से पके धान का खेत लहराया हो. बड़े मियां उस अदा पर रीझ-रीझ उठे. प्यासी नजरों से देखते, हाथ से सामान देते बी महरी का हाथ छूकर खोयी हुई मुस्कराहट के साथ बोले, "ये सामनेवाला मकान तुम्हारा ही है!"

बी महरी बढ़ चलीं, नजीर मियां साथ-साथ बातें करते चले, "जब से इटायेवाली गुलशब्बो इसमें रहने लगी है तब से पिछत्तर मकान के आते हैं, बीस कलंदरवाली दूकान के आते हैं और दस नब्बन देता है. एक सौ पांच किराये के और बीस-पचीस और पीट लेता हूं. न कोई आल, न औलाद, न जोरू, न जांता, न कोई शौक. क्या कहूं, पचास हजार की जायदाद है और ये दिल है—हम हथेली पे लिये-लिये घूमते हैं. मगर कोई दिल का नाज उठानेवाली ही न मिली. यों माल हड़पने के लिए चोंचले सब दिखाती हैं. अब तुम्हीं इंसाफ करो बी महरी कि हम क्या कोई गौरवे हैं. अरे, अब लौंडपन भी नहीं रहा कि धोखा खाते फिरें. बकौल कैस 'उन्हें भी जोशे उल्फत हो तो लुत्फ उट्ठे मुहब्बत का, हमीं दिन-रात भर तड़पे तो फिर इसमें मजा क्या है?"

यों ही अपनी सुनाते हुए बी महरी के साथ-साथ उनके मालिक की ड्योढ़ी तक पहुंच गये. देखते ही बोले, "अल्लाह, नवाब अख्तर साहब की कोठी में काम करती हो. अमां, तब तो तुम अपने घर की ही निकलीं. अरे-अरे, सुनो तो बी महरी, नवाब साहब अगर दीवानखाने में तशरीफ रखते हों तो जई मेरे आने की इत्तिला करना, कहना नखासवाले नजीर मियां आये हैं. अमां, पूरी बात तो सुन लो. तुम तो खुदा की कसम दिल तो उड़ाती ही हो मगर आप भी उड़ती हो."

"ए तो क्या करें, तुम तो हो नाठे निगोड़े ओ' यहां पचासों काम पड़े हैं."

नजीर मियां ने एक सर्द आह खींची, कहने लगे, "ठहरे हैं हम तो मुजरिम टुक प्यार करके तुमको; तुमसे भी कोई पूछे तुम क्यों हुए पियारे! ... जरी अपना नाम तो बतला दो, तुम्हें हमारी जान कसम!"

इसके बाद मलाई के चप्पन, इतर फुलेल, कंघी-आईना, यहां तक कि माशूक छाप साबुन की सौंधी टिकिया भी बी हैदरी की खिदमत में पहुंची. बारे महीना पचीस रोज के चक्करों ने बी हैदरी के बूढ़े दिल में भी इश्क की लहरें उठा दीं. तब से वही उनकी इश्किया जिंदगी का इकलौता सहारा है. ऐसे बस में हुए हैं कि जान सौंप दी पर माल नहीं सौंपा. हां, लालच बढ़ाते हैं. एकाध जेवर दे भी दिया है. कभी-कभी यह इरादा भी जाहिर करते हैं कि हैदरी अगर नौकरी छोड़ दे तो वह उसे अपने घर में डाल लेंगे और आखिरी वक्त में जेवर-जायदाद भी उसी के नाम लिख जायेंगे. मगर यों तो नजीर मियां पहले भी कईबार सोच चुके हैं. बी हैदरी के बाद आगे कब और किस-किसके लिए फिर ये नेक इरादे जागेंगे, इसे सिर्फ ऊपरवाला ही जानता है. □

श्रीमती प्रतिमा नागर (1921) : एक दुर्लभ चित्र

अमृतलाल नागर के संस्मरण : एक

आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे...

28 मई को मंगलवार था, जेठ का चौथा मंगल. रात भर कोरी आंखों ही बितायी थी. प्रतिमा अस्पताल में थीं. फिर नींद क्योंकर आती. यों प्रकट चेतना में निराशा का अंधेरा क्या, धुंधलका भी नहीं था, लेकिन अचेतन मन बार-बार डूब जाता था! सुबह चार बजे ही नहा-धोकर तैयार हो गया. सोचा, पांच बजे अस्पताल पहुंच जाऊंगा. एक बार अपनी 'पं बुड्ढन लाल' को देखकर महाबीरजी के दर्शन करने जाऊंगा. फिर लौटकर जब उनके कपाल पर महाबीरी सिंदूर की बिंदी लगाऊंगा तो मेरी प्रतिमा स्वस्थ होने लगेंगी. चाय पी, तब तक अस्पताल से चि. अवधेश (छोटे पुत्र चि. शरद का सहकारी) आ गया. उसे देखकर मन एकदम डूब गया. इतनी जल्दी आया है तो लगता है शायद खेल खत्म हो गया. फिर भी पूछा, "बा कैसी हैं?"

"पहले से थोड़ा सुधार तो हुआ है, लेकिन..." आगे की बात मेरी आशा के ज्वार में बह गयी. अच्छी हो जायेंगी. जोश में आकर कहा, "चाय पी लो, फिर मैं हास्पिटल जाऊं. तुम अपने घर चले जाना. रातभर के थके-मांदे हो."

अवधेश कुछ न बोला. उसने चाय पी. हम चल दिये. रिक्शा बाहर खड़ा था. मैंने कहा, "तुम इस पर अपने घर जाओ. मैं दूसरा रिक्शा ले लूंगा."

"नहीं, आपके साथ ही चल रहा हूं." रास्ते में कोई बात न हुई. मन के तराजू का पलड़ा न 'हां' की तरफ झुका, न 'ना' की तरफ. कांटे तोल चुप्पी. गुरु की डाली आदत से खाली, मन खाली नहीं रहता, मगर इस समय शब्द भी चुप हैं. दस कदम पैदल का रास्ता रिक्शे पर भी काले-कोसों दूर लगा. रिक्शा मेडिकल वार्ड के फाटक पर रुका. बब्बन (चि. कुमुद) बाहर खड़ा था. रिक्शे से उतरकर उसके पास आया. उसने मेरे कंधे पर हाथ रखकर कहा, "बा नहीं रहीं."

सारी गुत्थियां ढीली पड़ गयीं. मन का डर अब असलियत बनकर सावधान हो गया था. पूछा, "कितनी देर हुई?"

"पांच मिनट पहले."

बेटा सम्हाल रहा है कि बाप कहीं लड़खड़ा न जाये, परंतु मैं पूरी तरह से अपने काबू में हूं. ऊपर 'इंटेंसिव केयर यूनिट' में प्रतिमा सामने ही शांतनिद्रा में हैं. न धौंकनी-सी चलने वाली सांस, न नाक में आक्सिजन की नली, न बांह में धंसी ग्लूकोज सैलाइन की सुई. सब कुछ नॉर्मल. कपाल छुआ, गाल पर हाथ रखा. शरीर अभी गर्म है. बस सांस ही नहीं है. मेरे पंडित बुड्ढन लाल, मेरी लाला बुढ़िया मल, मेरी ओल्डी, बा, मेरी प्रतिमा मृत्यु में भी जीवन की सारी सुंदरता समेटे शांत सो रही हैं. परसों दिन में बीमार लगती थीं. चेहरा स्याह पड़ गया था, लेकिन इस समय... नजर न लगे, बड़ी सुंदर लग रही हैं. इधर कुछ बरसों से उन्हें नींद न आने की बीमारी लग गयी थी. बब्बन रात में उन्हें 'कांपोज' की गोली दे देता तो देर तक सोती रहतीं. मैं जल्दी उठता हूं. नहा-धोकर लिखने के कमरे में जाने से पहले उनके पलंग के पास जाता, उनकी निद्रामग्न सुंदरता को निहारकर उनके बालों को सहलाता और बड़ी कुंकुम बिंदी लगे कपाल को चूमकर कहता, "मन्नू, जागो, सबेरा हो गया."

प्रतिमा एक बड़ी सांस लेकर कुनमुनातीं और आंखें खोलकर मेरी बांह पर अपनी बांह रखकर 'राम-राम' कहतीं. फिर आंखें मीच लेतीं. जानता हूं, आज सांस लेकर नहीं कुनमनायेंगी, मुझे देखकर राम-राम नहीं कहेंगी और फिर आंखें नहीं मीचेंगी. ये मुंदी हुई अब सदा मुंदी ही रहेंगी. पहली बार दिल जोर से उमड़ा, आंखें भरीं, पर दबा गया. कुमद, शरद की बहुएं आंखों में झलझले भरे थके उदास चेहरे लिये खड़ी हैं. दोनों ही इस तरह से देख रही हैं मानो कह रही हों, हम बा को बचा न सके. मैं बाहर आ जाता हूं. बेटे चुप, मैं भी चुप. हम एक-दूसरे को देखते हैं. इससे पहले कि कोई बेटा मुझसे कुछ कहे, मैं कहता हूं, "लाश की गाड़ी मंगा लो. मैं घर जाकर तुम्हारी मां के स्वागत की तैयारी करता हूं." तब तक बड़ी बहू सूर्यबाला बाहर आयी, बोली, "बाबूजी, मैं आपके साथ चलती हूं. बा का कमरा खाली करना है."

चौक की गलियों में तारबर्की की तरह खबर फैल गयी है. स्त्री-पुरुषों के झुंड आने लगे हैं—"बा जी चली गयीं." उनके संबंध में प्रशंसा भरे उद्गार फूट रहे हैं. शव के अस्पताल से घर आने तक बा की अंतिम झलक देखने के लिए स्त्री-पुरुष निकट आने लगे हैं. चौक में प्रतिमा, नागरजी की पत्नी से अधिक बा के नाम से ही सरनाम थीं. उनका अपना व्यक्तित्व था. नर्स में तीन-चार गरीब लड़कियां

इस रूढ़िग्रस्त समाज में पति से अलग पत्नी का कोई स्वतंत्र व्यक्तित्व नहीं होता, लेकिन नागरजी की जीवनसंगिनी प्रतिभा नागर का अपना एक अलग व्यक्तित्व था, जिसने नागरजी की जिंदगी को अपने ढंग से सजाया और संवारा. प्रस्तुत है उनकी मृत्यु के बाद की खामोशी और निस्तब्धता में जिया और लिखा गया नागरजी का अंतरंग और आत्मीय संस्मरण! एक ऐसा संस्मरण, जो अपनी ईमानदारी, तटस्थता और सच्चाई के साहसिक उद्घाटन के कारण हिंदी के संस्मरण साहित्य में एक अप्रतिम ऊंचाई हासिल करेगा...

श्रीमती प्रतिभा नागर और नागरजी (1976)

कन्यादान कराने का उन्हें नशा था. पहले अपने ग्यारह रुपये निकालेंगी, फिर आठ-दस संपन्न सहेलियों से रुपये-कपड़े बटोरकर कन्या के माता-पिता को दे आयेंगी. बर्तनवालों की पंचायत कुछ शकुन के बर्तन ऐसे कामों के लिए दान करती है. बाजी उनसे बर्तन भी लाकर देतीं. ऐसे उपकृत घरों की स्त्रियों की भीड़ भी आ गयी है. सब रो रही हैं. मेरे आंसू उमड़ते हैं. फिर मन कहता है, ऐसी बहादुर समाज सेविका के लिए आंसू ठीक नहीं, पर अब मैं बात-बेबात किस पर झुंझलाऊंगा. दुनिया में एक अकेली वही तो थीं, जिनसे लड़ता था. वह भी अपनी झुंझलाहट मुझ पर ही उतारा करती थीं. जैसे हम लोगों में समझौता हो, किसी और से तो लड़ नहीं सकते. फिर आपस ही में झांव-झांव क्यों न कर लें. घर-गृहस्थी के किसी काम की चिंता मैंने नहीं की. बैंक, हाट-बाजार, इन्कमटैक्स की अदायगी, सब वही करती थीं. अपनी जेब में एक भी पैसा रखना मुझे भारी लगता था. कभी चिढ़कर कहतीं, "कैसे आदमी हो, दो-चार रुपये अपने पास भी रखा करो. हरदम मेरे आगे हाथ फैलाते तुम्हें शर्म नहीं आती." मैं दोनों हाथ संडसी की तरह उनके गले में डालकर कहता, "साध्वी, संन्यासी को माया-मोह में फंसाना चाहती है, तेरा गला दबा दूंगा." अपनी गर्दन झटककर मेरे हाथ हटाते हुए वह कहतीं, "दबा दो तो सदा के लिए छुट्टी पा जाऊं." मैं उनके गाल पर एक मीठी चपत जड़कर कहता, "इतनी जल्दी छुट्टी कैसे दे सकता हूं. अभी तो मुझे बड़ा काम करना है भाई."

यादें, यादें, यादें, पांचवें वर्ष से लेकर अपनी आयु के इस सत्तरवें वर्ष तक समुद्र की लहरों-सी अनंत यादें, जो स्मृति तट पर आकर बिछ जाती हैं.

सन 22 या 23 में मौसी के विवाह में आगरे गया था. ननिहाली घर की रंगाई-पुताई हुई थी. विवाह पूर्व की होनेवाली किसी रस्म में बिरादरी की स्त्रियां आयी थीं. तीन-चार वर्ष की एक गुड़िया-सी गोरी सुंदर लड़की अकेले में रो रही थी. मुझे दया आ गयी. जब कई बार प्यार से पूछा, तब उसने अपनी हथेली फैला दी. किवाड़ों पर लगे ताजे कोलतार की रगड़ से उसकी हथेली में काला दाग पड़ गया था. मैं कहीं से साबुन लाकर उस गुड़िया की हथेली में लगी कालिख छुड़ाने लगा. हम दोनों की आयु में केवल एक वर्ष आठ महीनों का अंतर था, "रो मत, अभी साफ हो जायेगा." एक छोटा लड़का बड़े प्यार से छोटी-सी लड़की को समझा रहा है. किसी स्त्री ने यह दृश्य देखा. वह अन्य स्त्रियों को भी बुला लायी. मेरी मां, एक नानी, मेरी होनेवाली सास, ददिया सास—सभी ने यह दृश्य देखा. उस गुड़िया-सी लगने वाली लड़की की दादी ऐसी रीझी कि अंततोगत्वा हम दोनों का सगाई-संबंध हो ही गया.

उस गुड़िया को, जो तब बिट्टो कही जाती थी, अब अपनी निरी बेहोशी के जमाने में भावी पत्नी मानकर दिल में गुदगुदी भी होने लगी. पति-पत्नी क्या होते हैं, यह समझ तब तक उभरी न थी, पर वह गुड़िया-सी सुंदर बिट्टो दिल में ऐसी समा गयी कि अकेले में वह मन के भीतर से बाहर आ जाती. कहीं भी किसी भी समवयस्का सुंदर लड़की को देखता तो अपनी बिट्टो की याद आने लगती. बड़े लोगों में कोई छेड़ता कि 'तेरी बहू है' तो शर्मा जाता, पर मन ही मन खुश भी होता था. यों गलियों में खेलने या अकेले आने-जाने की इजाजत मुझे लखनऊ में कभी नहीं मिलती थी, पर अपने गौख (गवाक्ष) में खड़ी अपनी 'बहू' को देखने की ललक में गोकुलपुरे की उस गली में अक्सर चक्कर लगाता था. ननिहाल और ससुराल के घर लगभग दो सौ कदम दूर आमने-सामने ही थे. बिट्टो मुझे गली में देखते ही आवाजें देती तो बुरा लगता. मैं आंखें तरेरने लगता. मैं उसे चुपचाप देखना चाहता था, मगर उसके पुकारते ही किसी छज्जे पर बैठा कोई गलीवाला या बिरादरीवाला छेड़कर मुझसे कहता, "भैयो, तेरी बहू बुला रही है." इससे झेंप लगती थी.

जो हो, मेरा होश आयु के साथ ज्यों-ज्यों बालिग होता गया, त्यों-त्यों बिट्टो भी उस बलागत में अपना महत्व अधिक से अधिक बढ़ाती गयी, पुरानी कहानियों में वही हर राजकुमारी के रूप में आती, उपन्यास, कहानियां पढ़ता तो हर प्रेम करनेवाली नायिका में मुझे अपनी बिट्टो ही मिलती. नायक-नायिका या नायिका और उसकी सहेलियों के बीच होनेवाली छेड़छाड़भरी मधुर बातों में हर जगह 'जिधर देखता हूं, उधर तू ही तू है' वाली

कैफियत थी. आज कह सकता हूं कि इस बिट्टो नामक जंजीर ने मुझे इस तरह से जकड़ दिया था कि नौजवानी के शुरू के दिनों में मेरा मन बिखरने न पाया, लेकिन विवाह और जल्द हो जानेवाले गौने के बाद इसी जकड़न के कठिन कसाव से तंग आकर कभी-कभी बिखराव भी आने लगा.

मेरी स्वर्गीय बुआजी ने मुझे मेरा नाम दिया था. विवाह के बाद उन्होंने ही बिट्टो को प्रतिमा कहकर पुकारना शुरू किया था. तब सबके सामने पत्नी का नाम लेकर पुकारने का चलन तो नहीं था, पर मैं अकेले में अपनी बिट्टो को प्रतिमा कहकर ही संबोधित करता था. प्रतिमा भी मुझे बेहद चाहती थी. कभी-कभी इतनी रीझ जाती कि मुझे देखते-देखते सहसा अपने दोनों हाथों से मेरे गालों को दबाकर अपनी टकटकी बंधी आंखों को मेरे चेहरे के पास लाकर बड़ी भरी-भरी आवाज में कहती, "शिवजी को रोज 108 चावल चढ़ाकर तुम्हें पाया है."

पुराने दिनों में विवाह संबंधों में मनमुटाव पैदा करवाकर संबंध तुड़वानेवाली खुर्राट बूढ़ी-बूढ़ियां बहुत होती थीं. हमारे घर में शिकायतें आतीं कि किशनी की पोती को तो थाली में नमक तक परोसने का शऊर नहीं है. वह तो लाड़ में इतनी बिगड़ गयी है कि मां और दादी तक से जबान लड़ाती है. उनके घर में शिकायतें जातीं कि लड़का बिल्कुल भोंदू है. उन लोगों की हैसियत तुम्हारे घर से मेल नहीं खाती. किशनी जीजी तुमने अपनी पोती का संबंध भला क्या देखकर किया है. फलाने घरवाले और ढिमाके घरवाले तो अपने लड़कों से इसका संबंध करने के लिए उधार खाये बैठे हैं, किशनी जीजी, तुम कहो तो हम बात चलायें.

इस तरह की बातें सुन-सुनकर प्रतिभा अकेले में खूब रोतीं. उनका खाना-पीना छूट गया था. दादी कृष्णाजी बड़ी दबंग औरत थीं. छोटी ही आयु में विधवा हो गयी थीं और अपने पिता के संरक्षण में रहती थीं. वह उरई में शायद ओवरसियर थे. विधुर थे. अंग्रेजों की नकल में एक बंगला बनवा लिया, चारों ओर बड़ा भारी बाग, जिसमें खेती करवाते थे. सत्तर-अस्सी हजार रुपया भी जमा कर लिया था. बादशाह तबीयत आदमी ने अपनी बेटी को भी हिसाब-किताब में थोड़ा-बहुत दक्ष कर लिया था. वह भी जल्द ही परलोक सिधारे. कृष्णाबाई रकम और काफी माल मता समेटकर अपने चाचा के पास आगरा चली आयी. चाचा के घर आश्रित होकर रहना उन्हें रुचिकर न लगा. चाचा भी बार-बार भतीजी से कहते कि रुपया-पैसा मुझे दे दे तो ब्याज पर लगा दूं, परंतु श्रीमती कृष्णाबाई इतनी घामड़ न थीं, अपने चाचा को उत्तर देतीं कि मेरे पास तो कुछ गहने भर हैं, रुपये-पैसों का पता नहीं कि पिता ने कहां लगाया. कागजों के बारे में पूछते तो भी भोले-भाले जवाब दे देतीं और रोने लगतीं. उनके पिता का एक पुराना नौकर था, दुर्गई, स्वामिभक्त और विश्वासपात्र. उसके द्वारा उन्होंने अपने चाचा के घर के पास ही चुपचाप एक जमीन खरीद ली और बड़ी तेजी से अपने लिए एक घर बनवाना शुरू किया. चाचाजी को तब पता चला कि भतीजी कितने पानी में है. किशनी जीजी अपने घर में रहने लगीं. उनकी अपनी संतान नहीं थी, इसलिए चाचा अपनी पसंद के एक लड़के को गोद लेने के लिए जोर देने लगे. उरई जाने का बहाना करके किशनी जीजी (वह इसी नाम से प्रसिद्ध थीं) दुर्गई को साथ लेकर गुजरात गयीं. खोज-बीन करके वालम गांव से अपनी बिरादरी के एक भुखमरे संतान समृद्ध परिवार से आठ-दस बरस का एक लड़का गोद ले आयीं. आगरे आकर विधिवत् गोद की रस्म संपन्न की, गोदनामे पर गवाहों में अपने चाचा के भी हस्ताक्षर कराये. लड़का पढ़ने लगा. थोड़े दिनों के बाद नूरी दरवाजे महल्ले में एक बड़ी जायदाद भी खरीद ली, जिससे किराये की आमदनी होने लगी. चौदह-पंद्रह वर्ष की आयु में लड़के शंभुनाथ का विवाह भी बनारस में कर दिया. दुर्गई पहले तो नमकहलाल था, किंतु बाद में उसके भी पर निकलने लगे थे. किशनी जीजी ने उसे भी चलता किया और शंभुनाथजी से ही जायदाद की देखभाल कराने लगीं. हिसाब-किताब रखने के लिए बिरादरी के ही एक अनुभवी वृद्ध को मुनीम बना लिया. किशनी जीजी अपने गोद लिये बेटे और उसकी बालवधू को वस्तुतः अपने जरखरीद गुलाम ही समझतीं और वैसा ही बर्ताव भी करती रहीं. शंभुनाथजी नवें या दसवें दर्जे में पढ़ रहे थे, उनकी पत्नी गर्भवती थीं. सन् 18 के प्लेग में वह अचानक तीन ही दिनों में चटपट हो गये. प्रतिमा ने अपने पिता की मृत्यु के उन्नीस दिनों बाद 7 अप्रैल, 18 को जन्म पाया था. सद्यःविधवा और हतभागिनी मेरी सत्रह वर्षीया सास श्रीमती जानकी बाई को कन्या को जन्म देने के कारण ही सास के बोल-कुबोल सुनने और सहने पड़े, परंतु कन्या बहुत सुंदर थी. सौभाग्य से किसी ज्योतिषी ने यह बतला दिया था कि जीजी, यह तेरे कुल का नाम बढ़ायेगी. कन्या क्रमशः दादी की लड़ैती बन गयी, पर उसकी मां और भी अधिक तिरस्कृता. परंतु मेरी सास बड़ी ही सहनशील और समझदार स्त्री थीं, नागरी लिखना-पढ़ना और गुजराती अक्षर बांच लेना उन्होंने अपने स्वर्गीय पति से सीख लिया था. उनकी लिखत बहुत सुंदर थी. कुछ समझ आने पर बिट्टो अपनी मां का पक्ष लेकर दादी से झगड़ भी लिया करती थी. एक बार दादी ने गुस्सा कर कह दिया, "कान पकड़कर अभी तुम मां-बेटी को बाहर निकाल दूंगी. गली-गली भीख मांगती फिरोगी." रोते-रोते भी बिट्टो सतेज स्वर में बोली, "निकाल के देख लो, मैं अपनी मामी (मां) को भीख नहीं मांगने दूंगी. आप ही घर-घर भीख मांगने जाऊंगी और सब से तुम्हारी बदनामी करूंगी. चलो मामी, अभी छोड़ो इनका घर, मैं यहां नहीं रहूंगी."

किशनी जीजी अपनी चार-पांच वर्ष की तेजस्विनी पोती से दब गयीं. उसे घसीटकर अपनी छाती से चिपटा लिया और फूट-फूटकर रोने लगीं. उसके बाद मेरी ददिया सास ने मेरी सास से कभी कटु वचन नहीं कहे. हां, उनकी दबंगियत और रौब वैसा ही कायम रहा. पोती के तेज से दब तो अवश्य गयीं, लेकिन उसे भी नीति से अपने दबाव में रखा. सिलाई-बुनाई-कढ़ाई के शौकों की जो वस्तु चाहिए, तुरंत मंगवा देतीं. ग्रामोफोन, हारमोनियम, गाना सिखलानेवाली—मुंह से निकलते ही बिट्टो की हर मांग दादी पूरी करतीं, मगर उनके ऊपर अपना डर-दबाव भी बनाये रखतीं. मैं समझता हूं, इसी डर-दबाव की नीतिवश ही किशनी जीजी अपनी पोती से यह भी कहती रहतीं कि तेरा ब्याह दूसरे लड़के से कर दूंगी, परंतु इसके साथ ही साथ किसी हद तक विश्वास के साथ यह भी कह सकता हूं कि वह अपनी बिट्टो का विवाह शीघ्र करके नत-दामाद जल्द से जल्द लाने की उतावली में थीं. हमारे यहां उनके पत्र आते, 'ब्याह करो, ब्याह करो.' मेरे पिता चाहते थे कि दसवां दर्जा पास कर लूं, तभी मेरा विवाह करें. इन्हीं खींचतान के दिनों में बिट्टो ने शिवजी की एक सौ आठ चावलों से पूजा करनी शुरू की थी. यह नहीं कह सकता कि उन्होंने यह मंत्र किससे पाया था. एक बार बिट्टो की दादी का मेरी दादी के नाम पत्र आया कि मेरे जीवन का भरोसा नहीं है, इसलिए मेरी ओर से आप राजाराम जी (मेरे पिता) से कहिए कि हमारी प्रार्थना मान लें. मेरी दादी का आग्रह टालना मेरे बाबूजी के लिए संभव नहीं था. इसलिए दसवें दर्जे में पढ़ते समय ही 31 जनवरी, सन 31 को हमारा विवाह धूमधाम से संपन्न हो गया. बिट्टो प्रतिमा बन गयी और अपनी इस इच्छा-पूर्ति को वह भोले शंकर पर चढ़ाये 108 चावलों की जीत ही मानती थी, "मैंने तुम्हें पाया है. जो मैं चाहूंगी, वही तुम करोगे."

प्रतिमा का यह अदम्य हठ ही मेरे और उनके बीच में क्रमशः झगड़े का कारण भी बना, जिसके जादू में बंधकर मैं अब तक उन बुराइयों से बचा रहा था, जो मेरे अन्य समवयस्कों में आने लगी थीं, उसी के प्रबल बंधन से घुटकर मन बहलाव के लिए अन्य आकर्षणों की तरफ भी बढ़ने लगा. इस कारण से हमारे बीच में अक्सर तनाव भी आ जाता था, पर हमारा यह आपसी तनाव अधिक टिक नहीं पाता था.

हम दोनों को भी एक दूसरे के ख्यालों में बंधे हुए अब बरसों हो चुके थे. गौने के बाद कुछ महीनों साथ रह लेने के कारण बीच-बीच में उभरते तनावों के बावजूद हमारा यह पारस्परिक आकर्षण और भी तीव्र हो चुका था. जो हो, मेरी कुछ रोमानी कमजोरियां इन्हीं दिनों में पनपी थीं. सन 35 में पिताजी के स्वर्गवास के बाद कुछ और छूट मिली. बहका अवश्य, पर यह भी कह सकता हूं कि बहककर भी अधिक बहक न पाया. मेरी रंगीन चाहतों की पतंग ऊंचे आसमानों में उड़ी, पर डोर प्रतिमा की चुटकी में ही रही. प्रतिमा और साहित्य के प्रति मेरी लगन बराबर बढ़ती ही रही. साहित्यिकों की संगत ने, देश-काल से प्राप्त वैचारिक स्फूर्तियों ने मेरे कुछ-कुछ उभरे हुए वाजिदअली शाही मिजाज को अधिक उभरने से बचा लिया था. दूसरे प्रतिमा की दो विशेषताओं ने मुझे और भी मोह लिया था. मैं अपने अनुजों रतन और मदन के प्रति अत्यधिक ममतालु था. मेरे पिताजी के देहांत के बाद मेरे इस रुख की उन्होंने बड़ी रक्षा की. मुन्नी भाभी और देवरों में गहरा आपसी लगाव था. मां को हम लोग भाभी कहते थे, इसलिए देवरों ने उन्हें मुन्नी भाभी कहा. बाद में हकीम जी कहने लगे. कहानियों के साथ छापे के अक्षरों में मेरा नाम देखकर वह बहुत खुश होती थीं और मुझे बराबर लिखने के लिए प्रेरित करती थीं.

सन 35 और 40 के बीच में दो बेटों कुमुद, शरद और एक बेटी अचला का पिता, साप्ताहिक 'चकल्लस' का संपादक-प्रकाशक और दो अनुवादों तथा तीन कहानी संग्रहों का रचयिता बनकर मैं धन कमाने के लिए बंबई चला गया. सन 42 के मार्च या अप्रैल महीने में अपने मंझले भाई रतनलाल को फिल्मों का कैमरामैन बनाने की इच्छा से मैंने बंबई बुलाया, तीन बरस की बेटी अचला और प्रतिमा भी साथ आयीं. बंबई में हमारी गृहस्थी जमी. आगरे के गोकुलपुरे या लखनऊ के चौक की तंग दुनिया से वह पहली बार बंबई जैसे बड़े शहर में आयी थीं, मगर मैं यह देखकर मुग्ध हो गया कि आने के तीन ही चार दिनों में उन्होंने अपने आप को नये वातावरण में पूरी तरह से दूध में चीनी की तरह आत्मसात कर लिया. पहले ही दिन स्व. किशोर साहू की माताजी का मन उन्होंने इस तरह से जीत लिया कि लगता था, बरसों से साथ रही हैं. सेरा [illegible] बिल्डिंग में ऊपर रहनेवाली श्रीमती सौ. मजुमदार भी उनकी परिचित हो गयीं. मेरे सहकारी श्री गजानन सदाशिव पोतदार बड़े कुशल घर-कर्ता थे. इन लोगों के आने से एक दिन पहले ही वह सप्ताह भर की भोजन सामग्री, अचार, मसाले से लेकर सिगड़ी, कोयले, मिट्टी का तेल, दियासलाई, बटन और सुई तागा तक

निःशुल्क पाठशाला में बच्चों को पढ़ाती हुई श्रीमती प्रतिमा नागर (जनवरी, 1949)

ले आये थे. बड़ी खुश हुईं, कहा, 'पातेदारजी, हमारे लिए कल के वास्ते कुछ शाक-भाजी ले आइए."

"अरे भाभीजी, एकाध दिन आराम कीजिए. सबेरे डिब्बे में होटल से खाना ले आऊंगा."

"नहीं, होटल का खाना यह बहुत दिन खा चुके. कल आप भी मेरे यहां भोजन कीजिए. फिर हम लोग बाजार चलेंगे. पूजा के लिए ठाकुरजी दिला दीजिएगा."

"तब फिर कल भोजन नहीं करूंगा. परसों सबेरे आ जाऊंगा, विग्रहों की प्राण प्रतिष्ठा और हवन कराऊंगा. फिर आपका प्रसाद ग्रहण करूंगा."

पहली शाम मेरे परम मित्र श्री किशोर साहू के यहां ही हम सबका भोजन था. प्रतिमा ने मेहमान की तरह नहीं, बल्कि बहू की तरह खाना आदि परोसने में मां की सहायता करनी शुरू कर दी. तब तक कुमारी प्रीत पांडे श्रीमती प्रीति साहू बनकर घर में नहीं आयी थीं. वह शांतिनिकेतन में ही पढ़ती थीं और किशोर की पहली तलाकशुदा अभिनेत्री पत्नी के व्यवहार से सारे परिवार ने बड़ा दुःख पाया था. इसलिए मां को प्रतिमा बहुत प्रिय हो गयीं. किशोर की तीनों बहनें इंदुबाई, रजनी और लतिका भी बहुत प्रसन्न थीं. इसलिए बंबई आने के पहले दिन से ही प्रतिमा ने अपना अंतरंग संबंध स्थापित कर लिया. उनका पर्दा मैंने सन् 34 में ही हटवा दिया था. मेरे स्व. पिता भी घर में अपनी बहू से पर्दा नहीं करवाते थे, इसलिए दूसरे ही दिन श्रीमती मुजुमदार जब 'शॉपिंग' करने के लिए जाने लगीं तो प्रतिमा भी उनके साथ हो लीं. मैं सोचता था कि प्रतिमा कुछ दिनों बंबई में अटपटापन अनुभव करेंगी, पर वाह री प्रतिमा, हफ्ते भर में ही वह बंबई, जहां निकट पड़ोसी भी अपने आस-पास के लोगों से बरसों तक अपरिचित ही रह जाते हैं, वहां उन्होंने अपनी जगह बना ली. बनारस में उनकी ननिहाल थी, इसलिए मराठी भाषा से नितांत अपरिचित नहीं थीं, गुजराती हमारे पूर्वजों की मातृभाषा है. और हम लोग घर में भले ही 'मेड इन उत्तर प्रदेश' सही, गुजराती ही बोलते भी हैं. इसलिए पास-पड़ोस के मराठी-गुजराती परिवारों से खूब हेल-मेल स्थापित कर लिया. मेरे मित्र और पड़ोसी मराठी के सुख्यात कवि स्व. राजा बढ़े की बहनें भी उनसे दिन-रात भाभीजी-भाभीजी करती लगी रहती थीं. शिवाजी पार्क की महाराष्ट्रीय महिलाओं की संस्था 'वनिता समाज' की सदस्या भी बना ली गयीं. वहां की वृद्धा अध्यक्षा ने उनसे अपने समाज की इच्छुक सदस्याओं को हिंदी पढ़ाने का आग्रह भी किया. एक महीने के भीतर ही प्रतिमा नागर अपने आस-पास के मराठी-गुजराती महिला समाज में सुप्रतिष्ठित हो गयीं. रात में मुझे अपनी दिन भर की एवरेस्ट विजयों के हाल सुनातीं. मैं कहता, "मुन्नूलाल, तुम खुद तो ओनामासी

धम् ही पढ़ी हो, मगर औरों को हिंदी कैसे पढ़ा लेती हो?'

अकड़कर जवाब दिया, "तुम मुझे समझते क्या हो. चाहने पर सब कुछ कर सकती हूं. उनका आत्मविश्वास अदम्य था. वह सचमुच जो चाहती थीं, उसे पाकर ही दम लेती थीं. मेरा हिसाब-किताब सब वही रखने लगीं. कहें, "कल को बच्चे बड़े होंगे, अभी तो हमें जग जीतना है." पैसे बचाये, अपने देवर से हिसाब लिखवायें. तुम तो भोलानाथ हो, यह पैसा तुम्हारे बहाने से भगवान मुझे दे रहा है." मैं उनकी इन सब इच्छाओं के प्रति पूरी तरह से समर्पित हो गया. बस, एक ही जगह हम दोनों की पटरी नहीं बैठती थी. वह मुझ पर शक करती थीं और मैं चिढ़ता था. यह सच है कि मेरे मिजाज में रंगीनी थी, मगर यह भी सच है कि मेरी बेहोशी में वह रंगीनी बिट्टो (प्रतिमा) में से होकर होश के दिन आते-आते तक एक नयी शक्ति बन गयी थी. मेरे सौभाग्य से सगाई की तरह ही वह शक्ति छापे के अक्षरों से दोस्ती में बदलकर एक नया रूप धारण करने लगी थी. मेरा दूसरा सौभाग्य यह था कि बचपन और नौजवानी के दिन राष्ट्रीय और सामाजिक आंदोलनों के जोशीले विचारों और भावनाओं से आंदोलित हुए थे. आरंभ में बंधुवर ज्ञानचंद जैन और स्व. गोविंद बिहारी खरे का साथ और बाद में निरालाजी की कृपा से पढ़ने के लिए लखनऊ आये हुए ओजस्वी नवयुवक रामविलासजी शर्मा, मुख्य रूप से तथा और भी कई छोटे-बड़े समान विचारधारा के हिंदी, उर्दू लेखकों ने लेखक कार्य को ही मेरा सर्वोच्च जीवन मूल्य बना दिया. लेकिन प्रतिमा का यह मुहल्लेशाही औरतों का विश्वास कि 'मर्द किसी एक स्त्री से बंधकर रह ही नहीं सकता और इसीलिए मर्द की बातों का विश्वास कभी नहीं करना चाहिए' मेरे और प्रतिमा दोनों के लिए ही अभिशाप बन गया. बड़ी लज्जा के साथ आज सार्वजनिक रूप से यह स्वीकार करता हूं कि पिता के मरने के बाद मैंने एक बार उन पर हाथ भी चला दिया था. बाद में हम दोनों लिपटकर खूब रोये थे. मगर शक का यह कीड़ा उनके कलेजे को सदा काटता ही रहा और प्रतिक्रियावश मैं न फिसलना चाहते हुए भी फिसल ही गया.

इस बार छोटा-मोटा नहीं, गहरा और कारी घाव लगा था. मैंने बड़ी पीड़ा और गहरे आत्म निरीक्षण के दिन बिताये. अब यह भी मुझे विचित्र संयोग ही लगता है कि जिस भय की आशंका से वह अब तक बराबर चौंकती रही थीं, उस भय का क्षण जब सचमुच आया, तब वह बंबई से दूर अपने मैके में थीं. उन्हें प्रकट रूप में मृत्युपर्यंत थाह न लग पायी, यद्यपि मुझे यह भी अक्सर लगा कि उन्हें उस घटना का आभास भी कहीं न कहीं अवश्य हो गया था. बंधुवर नरेंद्र शर्मा जी के विवाह के अवसर पर वह आगरे से बंबई आयीं, तब मेरा उदास और गंभीर चेहरा देखकर भी उन्हें शक हुआ था, पर तब तक मेरा मन अपनी थाह पा चुका था. मैं यह जान चुका था कि मेरे लिए प्रतिमा और उनसे प्राप्त बच्चे ही सर्वाधिक मूल्यवान हैं. 'दूसरा प्रभाव' कितना ही तीव्र और शक्तिशाली क्यों न हो, परंतु मेरे मन की उस लक्ष्मणलीक में प्रवेश नहीं पा सका, जहां प्रतिमा अटल छत्रधारिणी होकर विराजमान हैं. प्रतिमा का प्रभाव अंगद के पांव की तरह अडिग था. यह भी एक दैवी संयोग ही रहा होगा कि तब तक मेरे जीवन में दो पारलौकिक शक्तियों के महापुरुष भी आ चुके थे. एक थे शांकर मत के सुख्यात दार्शनिक और तंत्रशास्त्र के अगम पंडित पुणे निवासी महात्मा न्याय रत्न डॉ. धुंढ़िराज गोविंद विनोदजी और दूसरे जौनपुर जिले के मूल निवासी हठयोगी कर्मयोगी बाबा रामजी महाराज. पूज्य विनोदजी मेरे बीज-मंत्र दाता गुरु थे. वह प्रतिमा और उनकी माताजी के पुराने परिचित भी थे. मैंने पुणे जाकर उनके सामने अपना जी खोल दिया था. महात्मा विनोद हंसे, बोले, "तुम दोनों का अभिशाप ही तुम्हारे लिए वरदान भी सिद्ध हो सकता है. पंक से पंकज उत्पन्न करो. तुम्हारी कठिन परीक्षा की घड़ी में केवल इतना ही संकेत दे सकता हूं." बाबा रामजी का प्रभाव मुझ पर और बाद में प्रतिमा पर भी गहरा और स्थायी पड़ा, यद्यपि बाद में लखनऊ आने पर.

इन सब बातों के बाद मेरा मन फिल्मी लेखन से हटकर सच्चा लेखकीय जीवन बिताने के लिए आतुर हो उठा. भारत स्वतंत्र हो चुका था. मेरा रुख देखकर प्रतिमा मुझसे बार-बार कहने लगीं, "तुम्हारा जी यहां नहीं लगता है तो लखनऊ चलो. कम आमदनी में भी हमारी गुजर-बसर हो जायेगी. तुम लिखो और खूब लिखो, बस, यही मैं चाहती हूं."

मेरे बंबई छोड़ने के निर्णय में पत्नी के अतिरिक्त मेरे स्वर्गीय मंझले अनुज रतन ने भी काफी हौसला दिखाया.

लखनऊ लौट आने पर हमारा जीवन फिर नये सिरे से आरंभ हुआ. काफी तंगदस्ती से हमारी गृहस्थी आरंभ हुई. हम पति-पत्नी ने मिलकर जूठे बर्तन मांजे, कपड़ों की धुलाई और घर की सफाई आदि भी स्वयं ही की. बंबई में पड़ी हुई आदतें प्रतिमा ने यहां भी न छोड़ीं. तरकारी-भाजी और दूसरा आवश्यक सौदा-सुलुफ वह स्वयं ही खरीदने जाती थीं. सन् 48 का चौक आज के चौक से भिन्न था. पर्दे की प्रथा पहले की अपेक्षा यद्यपि काफी हद तक उठ चुकी थी. फिर भी भले घरों की महिलाएं तब तक बाजार-हाट के काम कम ही करती थीं. प्रतिमा की देखा-देखी मुहल्ले की अन्य स्त्रियों का हियाव भी खुलने लगा. मैं सुबह से गली-मुहल्लों में घूम-घूमकर पुराने लोगों से पुरानी बातें और विभिन्न जातियों के रीति-रिवाज इकट्ठा करने लगा. लेख, कहानियां, रेडियो नाटक आदि लिखकर कमाई के डौल बिठाने लगा. छोटा भाई स्व. मदन भी थोड़ी-बहुत कमाई करने लगा था. दिन में चौके-पानी से छुट्टी पाकर प्रतिमा मुहल्ले के बच्चों की फ्री-पाठशाला चलाने लगीं. जो बच्चे स्कूल के नाम से रोते और फैल मचाते थे, वह भी बा के 'स्कूल' में खुशी-खुशी आते थे. गरीबों के बच्चे तो आते ही थे, धनी घरों के कुछ बच्चे भी आने लगे. बा के यहां जाने से बच्चों के अंदर से स्कूल का भय समाप्त हो जाता था. प्रतिमा के बेटी-बेटे चूंकि अपनी मां को बा कहते थे, इसलिए दूसरे बच्चे भी उन्हें यही कहकर पुकारने लगे. देखते-देखते ही प्रतिमा चौक की 'जगत-बा' बन गयीं. इन्हीं दिनों सन्' 49 में हम दोनों स्वेच्छा से एक नयी संतान के जनक-जननी बने. अचला और आरती में दस वर्षों का अंतर है. आरती हम दोनों के पारस्परिक पूर्ण समर्पण की निशानी है.

हमारे सौभाग्य से इन्हीं दिनों बाबा रामजी भी लखनऊ आकर जम गये. गोमती तट पर एक खाली बारहदरी में मैंने उनका निष्काम पागलखाना खुलवा दिया. गली-सड़कों में डोलते पागलों को वह पकड़ लाते और उनका मानसिक उपचार करते. बाबा रामजी ने हमारे आर्थिक संकट के दिनों में हमें बहुत बल दिया. सच पूछा जाये तो हम दोनों के आध्यात्मिक संस्कारों को उन्होंने ही सही ढंग से संवारा और बढ़ाया. उनकी आध्यात्मिकता हमें जीवन से पलायन करना नहीं सिखाती थी. मेरी पत्नी से कहते, "जीवन से जूझेगी नहीं तो तुम्हें रामजी कैसे दिखलाई पड़ेंगे." एक बार मुझसे कहा, "हजार हथौड़न की चोट खाय के पाथर संकरजी बनत है, तब पूजा जात है." उनके उपकारों को न तो प्रतिमा ही जीते जी भूलीं और न मैं ही भूल पाऊंगा. अपनी व्यक्तिगत चिंताओं के दायरे से निकलकर दूसरों की चिंताओं से जूझते हुए ही हमने अपने लिए स्फूर्ति पायी और इस तरह हमने एक दूसरे को भी दिनों-दिन अधिकाधिक पाया. बिना कोई यौगिक या चमत्कारिक 'ट्रिक' किये हुए हम अक्सर एक दूसरे के मन की बातों को पहचान लेते थे. हम दोनों दिनोंदिन एक दूसरे के गहरे दोस्त बनते गये. इतना एका हमने पहले कभी अनुभव नहीं किया था.

सन '52 या '53 में कुछ पारिवारिक कारणों से मुझे प्रतिमा की पाठशाला बंद करवानी पड़ी. प्रतिमा इससे बहुत दुखी हुईं. उनके मन बहलाव का एकमात्र सहारा मैंने उनसे छीन लिया था. इसमें कोई संदेह नहीं कि 'बा के स्कूल' और बाबा रामजी के पागलखाने से मेरे उपन्यासकार को बहुत अनुभव और ज्ञान प्राप्त हुआ. बाबाजी 'रमते जोगी बहता पानी' ठहरे,

कहीं चले गये. आठ नौ महीनों तक गायब रहे. स्कूल बंद होने से प्रतिमा को अपना निकम्मापन बेहद खलता था. अपनी झुंझलाहट मुझ पर उतारतीं, "तुम तो नाटक-वाटक कराके, लेक्चरबाजी करके अपना मन लगा लेते हो, मैं अपना जी कैसे लगाऊं." मेरे पास कोई सुझाव नहीं था.

उन्हीं दिनों चौक में होने वाले गीता-सत्संग के बहाने से एक स्वामी प्रकाशचंदजी आये. संस्कृत के विद्वान थे और उच्च कोटि के साधक. प्रतिमा उनसे बहुत प्रभावित हुईं. मन्ना सोंधी के ठाकुरद्वारे में उनके प्रवचन सुनने के लिए जाने लगीं. वहीं स्त्रियों की मंडली में एक विधवा युवती से उनकी भेंट हुई. वह बहुत दुःखी थी. अक्सर इनके पास आने लगी. एक दिन उसने अपना मन उद्घाटित किया. दरिद्रता के कारण उसकी विधवा मां उसे भी परपुरुष सेवा करके जीविका अर्जित करने के लिए प्रेरित करने लगी थी. वह लड़की इस धंधे से घृणा करती थी. मां कहती, "हमरे घर ते निकरि जाओ. हम तुम्हार खरचा नाहीं चलाय सकित हयि." "हम कहां जाई बा, का करी." अपनी तंगहाली में भी बा ने उसकी कुछ सहायता की और रात में मुझे उसकी कहानी बतलाते हुए फूट-फूटकर रो पड़ीं. उन्हें दिलासा देते हुए मैंने यह सुझाव दिया, "ऐसी निराश्रिताओं को सिलाई-बुनाई-कढ़ाई आदि के काम सिखलाओ."

यह बात उन्हें जम गयी. अपने घर की सिलाई मशीन निकाली, तीन समृद्ध सहेलियों से तीन मशीनें और पायीं. चंदे की सहायता भी पायी. तीस रुपये मासिक पर एक घर किराये पर लिया और 'महिला उद्योग केंद्र' चल पड़ा. कुछ दिनों तक एक सद्‌गृहस्थ सहेली इनके पास सिलाई-बुनाई आदि की निष्काम अध्यापिका बनी रहीं. लड़कियां फिर जुटने लगीं, स्कूल चल पड़ा. एक चेली इनके साथ लग गयी. प्रतिमा के भीतर जोश का तूफान उमड़ पड़ा. रिक्शे में बैठकर दिनभर घरों से चवन्नी-चवन्नी वसूल करतीं. स्कूल जोरों से चल पड़ा. निष्काम अध्यापिकाओं की समाज सेवा का जोश जल्द ही समाप्त हो जाता. वैतनिक अध्यापिका रखीं. दिन भर की चंदा वसूली की दौड़-धूप से ऊबकर उस चेली ने सुझाव दिया कि "बा, आप नागरजी से कह के सरकारी 'एड' ले लें. फिर यह दौड़-धूप का काम हल्का पड़ जायेगा."

प्रतिमा रोज मेरा सिर खाने लगीं. मैंने कहा, "जिस दिन तुम्हें सरकारी सहायता मिलने लगेगी, उसी दिन से तुम्हारे केंद्र में प्रपंच फैलने लगेंगे. इससे तो यह अच्छा होगा कि किसी 'रेडीमेड' कपड़ों के दूकानदार से बात करके ठेका ले लो और सीखी हुई लड़कियों से काम करवाओ. उनकी जीविका भी चलेगी और तुम्हारे केंद्र में रुपया आने लगेगा."

प्रेमचंद का पत्र अ. ला. नागर के नाम

बनारस सिटी
12-5-35

प्रिय अमृतलाल जी,
वाटिका मिली. धन्यवाद!

यह तो गद्यकाव्य की सी चीजें हैं. मैं रियलिस्टिक कहानियां चाहता हूं. जिनका आधार जीवन पर हो, जिनसे जीवन पर कुछ प्रकाश पड़ सके. मैंने वाटिका के दो-चार फूल सूंघे. अच्छी खुश्बू है. आलोचना करूंगा.

पांडेजी से मेरा नमस्कार कहना और कहना, मुझ पर कृपा रखें. कह नहीं सकता, कब लखनऊ आना होगा.

शुभाकांक्षी
प्रेमचंद

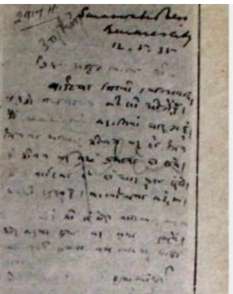

प्रतिमा और उनकी चेली को यह प्रस्ताव तो पसंद आया, पर सरकारी सहायता की बात पर अड़ी रहीं. खैर, केंद्र का विधिवत रजिस्ट्रेशन हुआ. कुछ सहायता मिलने लगी. अगले वर्ष सहायता की राशि और बढ़ी. चंदे की उगाही कम अवश्य हुई, पर उसके बिना खर्च पूरा नहीं पड़ता था.

अब वह हुआ, जिसकी मुझे आशंका थी. चेली इधर-उधर यह फैलाने लगी कि बा फलाने और ढिमाके के यहां से चंदा तो पांच रुपये लेती हैं और दो लिखवाती हैं. प्रतिमा का ब्रह्मतेज भड़कने लगा, "चलो पूछो, वहां से मैं क्या लाती हूं?"

दो-तीन बार ऐसी घटनाएं हुईं. बा बड़ी उत्तेजित होकर घर लौटतीं. एक दिन ऐसे ही आने पर मैंने कहा, "मुन्नूलालजी, यदि आप किसी ब्लैक मार्केटियर की पत्नी होतीं तो यह मिथ्या कलंक आपके माथे पर मुकुट मणि बनकर शोभित होता. दुर्भाग्य से चप्पल चटकाऊ लेखक की पत्नी हैं. दस बार बोला गया झूठ सच साबित किया जाने लगेगा. लोग कहेंगे, "साला, बीवी से चंदा बटुरवाकर बड़ा लेखक बनता है. आप यह काम छोड़ दीजिए."

बहुत दुःखी हुईं, रोयीं, मगर त्यागपत्र भेज दिया. तब से मृत्यु के डेढ़ वर्ष पहले तक गरीब कन्याओं के कन्यादानों का सिलसिला जारी रहा.

सन '81 में पहला हृदयाघात लगा, हल्का था. सन '83 में रिक्शा उलट जाने से बहुत चोट लगी. दो-ढाई महीने बिस्तर पर पड़ी रहीं. सन '84 का साल कुछ पारिवारिक कारणों से बहुत बुरा बीता. 28 अक्तूबर को अनुज मदन का स्वर्गवास हुआ. तब से क्रमशः स्वास्थ्य गिरने लगा. अक्सर कहने लगीं, "सबको राजी-खुशी छोड़कर तुम्हारे सामने चली जाऊं, बस यही चाहती हूं."

इधर तीन-चार महीनों से हम दोनों को अपनी-अपनी तरह से यह आभास होने लगा था कि कहीं हमारा साथ छूटने के दिन पास तो नहीं आ गये. जनवरी '85 में एक दिन पूछा, "तुम्हारा उपन्यास कब पूरा होगा?"

"बस, अब किनारा आ लगा है."

फरवरी में फिर पूछा. मार्च में पूरा हुआ तो संतोष की सांस ली. मैंने कहा, "बेटी-दामाद बड़े आग्रह से पठानकोट बुला रहे हैं. चलो वहां चलें."

"मेरी तबीयत ठीक नहीं. हिम्मत नहीं पड़ रही है." परीक्षा के बाद मेरी पोतियां बहुत आग्रह कर रही थीं कि दादाजी छोटी बुआ के यहां चलिए. मैंने कहा, "मैं ही इनको लेकर चला जाऊं."

"नहीं, तुम भी नहीं जाओगे." पठानकोट तो दूर, मुझे बड़े बेटे चि. कुमुद के बनवाये घर तक नहीं जाने दिया. आधे अप्रैल मास से उपन्यास की टंकित पांडुलिपि शुद्ध करके भेजने के बाद दिन भर उन्हीं के पास बैठा रहता था. नयी-पुरानी बातें होतीं. सौ. अचला का पोता और सौ. दौहित्र वधू लखनऊ आ गये थे. पड़पोते के साथ उनका मन खूब बहला. 15 मई को वह लोग मथुरा गये. बहुत उदास हुईं. मैंने कहा, "दिसंबर में जब अनिल, आरती और बच्चे आयेंगे, तब इन्हें भी बुला लेंगे." मेरा हाथ दबाकर बोलीं, "देखो."

मेरा मन तभी ठनक गया था. 26 मई की रात घर से अस्पताल के लिए विदा हुईं और 28 मई को सुबह उनकी निर्जीव काया घर से सदा के लिए विदा होने को फिर आयी. बड़ी शान-सम्मान के साथ मेरी जीवन-संगिनी ने अपनी जिंदगी पूरी की. प्रतिमा गयीं, अच्छा हुआ; पर मैं अकेला हो गया. अकेले में कवि नरेंद्र की पंक्ति मन ही मन गुनगुना रहा हूं— "आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे." नयी देहों में कब मिलेंगे हम? अभी तो एक-दूसरे से न मेरा ही जी भरा है, न प्रतिमा का. []

—पठानकोट प्रवास,
2[illegible] 1985

अमृत और विष

साठ; साठ; साठ; हर भाषण में मेरी आयु के साठ वर्षों पर जोर दिया जा रहा है. आखिर इन साठ वर्षों में मैंने पाया क्या? दिया क्या? देने के नाम पर छोटी-बड़ी अड़तीस किताबें हैं— पहले भावों की उछालों में लिखी थीं, फिर नाम की महत्वाकांक्षाएं, बाद में अपने परिवार की भरण-पोषण की समस्या हल करने के लिए. मुझे फुरसत ही कहां मिली जो अपने से उबरकर दूसरों के लिए सोचता. मैं अपने इकतालीस वर्षों के अनुभव से यह कह सकता हूं कि मैंने कभी अपने सुख-दुख के संबंध में कुछ नहीं सोचा... पर क्या यह पराजय भरा समर्पण, सच्चा समर्पण कहा जा सकता है? यह क्या ठीक वही भाव है, जो माया ने मुझे दिया है?

मेरा मस्तिष्क उत्तेजित, खीझ भरा, थका-हारा था. अपने सम्मान में होनेवाले इस सार्वजनिक समारोह की प्रतिक्रिया मुझ पर स्वस्थ न हो सकी थी; ये राज्यपाल, मुख्यमंत्री आदि मेरे लिए थोड़े ही आये हैं. इस सभा का आयोजन, मैं जानता हूं, नगर कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष ने अपने चार खुशामदी साहित्यिकारों को घेरकर कराया है.

मेरे भाषण का प्रभाव सरकारी नेताओं पर अच्छा न पड़ा. डिनर से घर लौटा तो मेरे साथ उपहारों के कुछ बंडल और सभा तथा प्रीतिभोज के अवसर पर प्राप्त फूलमालाओं का भारी बोझ था. पड़ोसी श्याम बाबू का नौकर पंद्रह तारों के लिफाफे दे गया, बधाई तारों के रंगीन लिफाफे.

सबेरे देर से उठा. ताजा और आनंदमय था. माया चाय-नाश्ता लेकर यथासमय आ गयीं. उनका चेहरा मुझे अपार शोकमग्न लगा.

"बात क्या है?" फिर वही जड़ मौन, जो मेरे तिबारा पूछने से पहले ही घुटन भरी निःश्वास में परिणत हुआ; फिर स्वर फूटा, "उमेश घर छोड़कर चला गया."

'कहां' शब्द मन ही मन उछलकर रह गया. मेरे कल के भाषण के प्रति सरकारी रोष से वह अपने आपको बचाना चाहता होगा. आई. ए. एस. के इंटरव्यू में अपनी सफलता को निश्चित करने के लिए, सरकार विरोधी पिता से अलग होने का निश्चय करने के लिए उसे शायद एक पल भी न लगा होगा. मुझे लगा कि मेरी अनंत कुंठाओं को समाप्त करने का केवल एक ही उपाय है, वही जो मेरे पिता ने किया था—आत्महत्या.

इस उदासी और मुर्दनी में मन कुछ खो जाता है. एक पालदार नाव तैरती हुई; झलकती, ओझलाती, फिर झलकती मेरे दृष्टि तट की ओर बढ़ रही है... हेमिंग्वे का 'बूढ़ा मछेरा और समुद्र'... ध्यान का 'शून्य', जादू सा आलोप. मेरी बहिर्चेतना में अब उपन्यास का नायक बूढ़ा मछेरा स्पष्ट रूप से विद्यमान था. स्फूर्ति ने सारी मानसिक गिरावट चमत्कारी रूप से संभाल ली.

बरातियों और समधियों से प्राप्त अपमानों के तीर स्मृति के तरकस से निकल और कार्य संकल्प के धनुष से छूटकर मेरी कल्पना में बिंध गये. स्फूर्ति ने शब्दों का रूप ले लिया—उपन्यास चल पड़ा.

पुत्ती गुरु की लड़की का ब्याह है. ब्याह-बरात के दृश्य पूरे हुए. कथा का जो सूत्र लेकर मेरा उपन्यास आगे बढ़ा था, वह चुक गया. अंतर्जातीय विवाह, और वह भी विधवा विवाह—दो क्रांतिकारी पहलू सामने आ गये. प्रेम ने दो अजानों को एक रिश्ते की पहचान करा दी... और इस तरह मेरे उपन्यासकार ने मेरे व्यक्ति को निजी अनुभव की कचोट दे दी. उपन्यास का नायक रमेश मेरी आनुमानिक आयु के अनुसार तेइस-चौबीस वर्ष का है. और मेरा बेटा भवानी अब अट्ठाइसवें में चल रहा है. उसका पहला प्रेम कांड पांच वर्ष पहले हुआ था—ठीक इसी तरह अरुणा की शादी पर. महल्लों के संस्कारों से घिरा हुआ मेरा भवानी जब अपना कैरियर चौपट हो जाने के बाद प्रेम से अघा गया तो अपनी पत्नी (उषा) को, ब्राह्मत्व को बात-बात में तुच्छ बताने लगा. मैंने एक दिन उसे समझाने की कोशिश की. मैंने कहा "... उस समय जब मैं तुम्हें समझाता था, तब तुम्हें उषा में गुण ही गुण दिखलाई देते थे."

"वह इंफैचुएशन था."

"खैर... तुम अपने जीव कर्म की चिंता करो." और रास्ता उन्होंने उम्दा खोज निकाला. अपने गुरु, अंग्रेजी के एक सम्मानित भूतपूर्व प्रोफेसर की एक लेक्चरर लड़की के रखैल बन गये. भवानी ने एक तीर से दो शिकार किये... सास-ससुर पर यह एहसान लादा कि उनसे उनका बेटी-दोहता मिला दिया और मां-बाप पर यह कि दो टका खर्चा कम करवा दिया... भवानी के दूसरे पुत्र अनंत का जन्म अपने ननिहाल में ही हुआ...

नन्ही (वरुणा) डाक लेकर आयी. उसके चेहरे पर खुशी की बिजलियां कौंध रही थीं... उल्लसित स्वर में बोली, "पिताजी, मेरे उमेश भैया आई.ए.एस. हो गये... पार्टी तो आपको प्रॉमिस करनी ही होगी... माता जी से तो मैंने अंगूठी और टॉप्स का प्रॉमिस झटक लिया है... और उमेश भैया से सर्दियों में ओवरकोट का वादा कराऊंगी. और, और अभी तो मेरी बी.एस-सी. का रिजल्ट आने पर एक हुप्

आप लोगों पर और पड़ेगा. उसके लिए तो मैं बड़े भैया और मिट्टी बहन जी से भी ले सकूंगी."

इस यक्ष्माग्रस्त बेटी को मैं बड़ी कठिनाई से यम पाश से छुड़ा पाया हूं. और इस समय अपनी खुशी में हल्की-सी चुभन भी नहीं चाहता.

पिछले चार दिनों से बराबर लिख ही रहा हूं... कल सुबह चार बजे जब हिदायत ने मुझे झिझोड़कर जगाया तो बुरा लगा... हिदायत अली मेरा स्कूली साथी तो है ही, सन् 21 के जमाने का जेलिया साथी भी है. इसने मेरा नाम बिगाड़कर 'अरबी शक्कर' रख दिया तो मैं भी उसे हजामत अली कहकर पुकारने लगा. हिदायत बारह-तेरह वर्षों से एकदम अकेला है. अधिकतर अपने गांव में रहता है. इसका एक अपना छोटा-मोटा काम है. खैर...तो ठीक सवा चार बजे हिदायत मुझसे और माया से विदा लेकर चला गया.

जवानी के बच्चे आ गये. मन में अपने उपन्यास की युगल जोड़ी रानी और रमेश की कल्पना जाग उठी. अपने उपन्यास का नया परिच्छेद लिखने की इच्छा भी जाग उठी. कलम उठा ही रहा था कि नन्हीं अपने छोटे भतीजे अनंतू को गोद में लेकर आ गयी, "बाबूजी, अम्मा आपको बुला रही हैं."

ऊपर जाकर देखा तो रसोई के सामनेवाले दालान में साड़ियों का मंडप बनाकर उसमें मेरे जयंत को पीतांबर, फूलों के गहने, फूलों के मुकुट, मुरली आदि से सजाकर बैठाया गया था. देखकर मैं मुग्ध हो गया... कौन जाने, ये मेरा जयंत भी भगवान ही हो. ये धरती पर कोई बड़ा काम करने के लिए जन्मा हो.

बहुत चाहने पर भी इधर अपने उपन्यास को मैं तनिक भी आगे न बढ़ा सका. इस समय बड़कू (बड़े बेटे चि. विनय शंकर) की याद सता रही है. बीबी और अफसर, ये दो ही उसके खुदा हैं. संयोग से तीन वर्ष पहले नसीब की सीढ़ियां फलांगकर वह अपने विभाग का बड़ा बाबू भी बन गया. है... उमेशो मसूरी में प्रशासन की शिक्षा पा रहा है. उसने अपनी मां को लिखा है कि दिल्ली सरकार के एक बड़े आई.ए.एस. अफसर श्री पुरी उससे बहुत खुश हो गये हैं... अपनी छोटी बेटी से उसका विवाह करना चाहते हैं... मैं जानता हूं, उमेश राजी हो जायेगा. होगा, मुझे क्या? खुश रहे, बस.

आजकल नगर में गोमती की बाढ़ आयी हुई है... उमेश— नहीं, रमेश मान लो, इस बाढ़ में फंसे...मगर कैसे? पुत्ती गुरु फंसे और रमेश उन्हें बाढ़ मुक्त करा के लाये.. चलो, यहीं से आरंभ करता हूं नया अध्याय...

अपने पिता और बचान महाराज को बाढ़ग्रस्त क्षेत्र से निकाल लाने पर रमेश अपने क्षेत्र का हीरो बन गया... पूरे अठारह घंटों तक अनवरत रूप से काम करते रहने के बाद रमेश जब अपने साथियों के द्वारा आराम करने के लिए अबर्दस्ती घर भेजा गया, तब शरीर से थका हुआ होने पर भी वह ताजा था... मन ही मन वह अपनी लीडरी के नशे में मशगूर था. इस नशे में रानी का खयाल चार चांद लगा गया. और उस ताजगी में उसके पांव खन्ना साहब के घर की ओर तेजी से बढ़ चले. रानी इस समय वहीं मिल सकती थी.

रमेश आज पहली बार रानी का अंतरंग परिचय पा रहा था... रमेश के मन में एक अनबूझा बवंडर नाच गया. मन को उस अनुभूति से खींचकर बचाते हुए बोला, "बाई द वे, तुम्हारी वो शादी..."

"नयी अम्मा के आने के ढाई-पौने तीन साल पहले मेरी मदर के सामने ही हुई थी. तेरह बरस की उमर थी मेरी... आठ जनवरी को मेरी शादी हुई, पंद्रह फरवरी को लड़का टाइफाइड में मर गया. और उस गम में आठ दिन के बाद मेरी अम्मा भी मर गयी..."

रमेश ने स्वर में हल्का पैनापन लाकर पूछा, "तुमने अपने हस्बेंड को देखा था?"

रानी का सारा मुखमंडल ही सुहाग-चिरी सा चमक उठा. मुस्कराकर

रचना कालक्रम के अनुसार 'अमृत और विष' नागरजी का पांचवां उपन्यास है, १९६६ में प्रकाशित इस उपन्यास ने नागरजी को १९६७ में साहित्य अकादमी पुरस्कार तथा १९७० में सोवियत लैंड नेहरू पुरस्कार से सम्मानित करवाया. इस उपन्यास के मलयालम और कन्नड़ भाषाओं में अनुवाद भी प्रकाशित हो चुके हैं. प्रस्तुत है इसका संक्षिप्त रूपांतर.

आंखों से आंखें मिलाकर, भावमग्न होते हुए भी हल्की शोखी की अदा में बोली, "अपने हस्बेंड को तो देखा है, उस लड़के को नहीं देखा था."

रमेश उल्लास में अपना आपा खोकर उसके पास बढ़ गया और उसके चेहरे को दोनों हाथों से बांधकर चार आंखों की एक लय में बंधे हुए रसांदोलन की सौंदर्यभरी उत्तेजना के साथ बोला, "तुम देवी हो—एंजिल—माई बिलवेड एंजिल."

इधर तो मेरा उपन्यास डर्बी के घोड़े की तरह दौड़ा है. ये बाढ़ के दृश्य यदि मुझे—मेरी सारी चेतना को—बांधे न रखते तो जो अपमान और आघात मुझे (और माया को) उन दिनों सहना पड़ा है, वह मन में तड़पाकर-तड़पाकर मुझे दीवाना बना देता.

आज छह दिन हुए, सुबह की डाक से एक निमंत्रण पत्र मिला... मैं धक्क से रह गया. उमेश ने अपने दो-एक पत्रों में पुरी साहब की कृपा और उनके घरवालों के प्रेम-व्यवहार का चर्चा तो किया था, पर यह नहीं लिखा था कि वह उनकी लड़की से विवाह करने वाला है. बड़ा चालाक निकला पट्ठा... लड़के का ब्याह था और मां उदास थी. ... मैं जानता हूं, मन से उसने यह अवश्य चाहा होगा कि ऐसे शुभ अवसर पर हम सब उसके साथ हों. मगर ससुर साहब ने उत्सव की कोई योजना निश्चित कर दी होगी. (और उसमें हम लोग कहीं समाये न होंगे) तब उसका यह हिसाब ही न पड़ा होगा कि उसमें कुछ सुधार करवा सके...

आओ अरविंद, दुनिया के चक्कर छोड़ो... चेतना अंतर्मुखी होते ही सचमुच दैवी शक्ति हो जाती है. आओ, लिखो नया अध्याय...

एम. ए. की छात्र टोली में इस समय अल्पविराम हो रहा है. बीड़ी दागकर, एक कश खींचकर कम्मी बोला, "नवंबर-दिसंबर की स्ट्राइक अब साली खोपड़ी पर बोल रही है; समझ में नहीं आता, कोर्स कैसे पूरा होगा!"

"तो वर्मा यों ही **कब कोर्स कंप्लीट कराते हैं... लड़के फेल हों** या पास हों..."

रमेश बोला, **"होगा यार, हटाओ इस चकल्लस को. एक बार** चाय बन जाये."

तभी छैलू दौड़ता हुआ, "रमेश, हमारी बारादरी गयी हाथ से."

सुनकर छोटे-बड़े सभी लड़कों में समान रूप से कौतूहल जागा... रमेश क्रोध में भरा था. उसके अंदर अपने पिता के विरुद्ध ज्वाला भड़क उठी थी... बड़ों में चाय का दौर अभी चल ही रहा था कि फाटक से कुछ व्यक्तियों के ऊपर आने की आहट और बातों के अस्फुट स्वर सुनाई पड़ने लगे. सभी का ध्यान उस ओर गया. मुहल्ले के सबसे बड़े धनी लाला रूपचंद, रमेश के पिता पुत्ती महाराज, लाला मिट्ठन लाल बैंक वाले, बाबू हरविलास वकील तथा दो-एक सज्जन और भी सीढ़ियां चढ़कर अहाते में आ खड़े हुए, बातें होने लगीं.

... रमेश बोला, "रुप्पन चाचा, हमारा काम वहां नहीं चल सकता, आपके साधु-संत तो सब किशोरी लाल के ठाकुरद्वारे में कीर्तन कर ही लेते हैं, फिर यहां क्या जरूरत है?"

रमेश के पिता पुत्ती गुरु गुर्राये... रमेश सहसा आपे से बाहर हो गया, बोला, "बनवाइए भला आप लोग मंदिर, हम साले में रोज आग लगायेंगे."

"कुलंगार, मंदिर में आग लगायेगा! मैं तेरे प्राण ले लूंगा."

लोग 'हैं हैं' करते बीच-बचाव के लिए झपटे... बड़ों के जाने के बाद बड़े लड़कों की सभा फिर जुटी... रमेश का मन पिता से वाक्युद्ध हो जाने के कारण खिन्न था. वह अभी घर जाने से हठात् जी चुरा रहा था.

दूसरे दिन सबेरे ही सेठ रूपचंद ने बारहदरी में अपना एक लठैत बिठा दिया... रमेश के अनशन की खबर रानी के लिए एक और नयी चिंता ले आयी... सारी रात इधर के महल्लों में जगार रही. गली-महल्लों के बीच में लगी हुई आठ-दस जगहों की आग बुझाने में फायर ब्रिगेडवालों के छक्के छूट गये. इतने धर्म-स्थानों का जलाया जाना शहर की सबसे बड़ी चर्चा का विषय बन गया. जिसे देखो वही लड़कों की नास्तिकता की बुराई कर रहा था. थोड़ी देर में हथियारबंद पुलिस और घुड़सवारों के दस्ते टिड्डीदल से गली-गली में दिखाई देने लगे. भीड़ें छितराकर सन्नाटा बढ़ाया जाने लगा. लाला रूपचंद अब प्रबल क्रोध में तमाम लड़कों से बदला लेने पर तुल गये.

यूसुफ की कल्पना के पीछे कहीं मेरा बालमित्र हिदायत तो नहीं? कैसे आ जाते हैं ये चरित्र?

रानी-रमेश के विवाह की सूचना ने रमेश की मित्र मंडली में एक नयी उमंग उठा दी थी. खन्ना साहब के यहां से उनका विवाह होने वाला था, जिसमें स्वयं डाक्टर आत्माराम आने वाले थे.

पुत्ती गुरु चार दिनों तक घर से बाहर न निकले.. कई संबंधियों पड़ोसियों की स्त्रियां दौड़ी-दौड़ी आयीं. कुछ से उनकी मुठभेड़ हुई; "हाय रानी, ई का सुन रहे हैंगे. रमेश उस ठाकुर की रांड बिटिया...'

इस शब्द से रमेश की मां के इत्ते-पित्ते भड़क उठे, हाथों की उंगलियां और आंखें नचाकर बोलीं, "वो काहे की रांड. कहे वाली होयगी रांड. अब तो जैसी भी है मेरी होनेवाली बहू हैगी. उसे कोई एक कहेगा तो मैं हजार सुनाऊंगी—"

रमेश की मां में भीड़ से सामना करके खुलाव आ गया था. पहले का अवसाद अपनी नयी जोशीली मान्यता से हल्का पड़ा था. पर अपने पति की चिंता उन्हें थी. हठी हैं, जाने कुछ कर ही बैठें. गम का धक्का गहरा बैठ जाये?

पूरे चार दिन में—उनका ये दुःख राम-राम करके समाप्त हुआ. नहा-धोकर रामजी की पूजा करने उतरे. पूजावाले कोठे की दहलीज पर पांव रखते ही उन्हें सहसा ऐसा लगा कि सवा फिटिया हनुमान जी की मूर्ति सहसा अतिविशाल होकर सिंहासन वाली सीढ़ियों से गदा ताने हुए झपटकर उनकी ओर बढ़ रही है. घबराहट में गुरु के हाथ-पैर सनसना उठे... आंसू भरी आंखों से जगदंबा ही में निहारते हुए, 'मैया पाहिमाम्' कहते हुए धड़ाम से सीढ़ियों के सिंहासन पर अपना मत्था टेक दिया... आंखों को खोलकर सीता जी की मूर्ति की ओर देखा. ऐसा लगा कि मैया प्रसन्न हैं; फिर रामजी की मूर्ति की ओर... सब ओर अमन चैन था... बहरहाल थोड़ी ही देर में पुत्ती गुरु भगवान श्री रामचंद्रजी से अपना समध्याना नाता जोड़ने लगे... राम की इच्छा के बिना तो पत्ता तक नहीं डोलता और फिर ब्राह्मण को तो चारों वर्ण की कन्याओं से विवाह करने का अधिकार प्राप्त है... "बोल सियावर राम चंद्र की जय, शरणम."

रमेश चंद्र गौड़ और रानी बाला का विवाह समारोह अलक्ष्य में राजनीत में जुड़कर नगर के उद्योगपतियों, कुछ अफसरों, मंत्रियों, महापालिका के समासदों, और कुछ राजनीतिक व्यक्तियों के लिए खासा महत्वपूर्ण हो गया था.

"साढ़े नौ-दस बजे खन्ना साहब का नौकर यह खबर लेकर आया कि पुत्ती गुरु सबेरे महल्ले के कुंए में, चबूतरे पर बैठे लोगों से यह कहके कूद पड़े थे कि उनके लड़के वहू हुसैनाबाद में मुसलमान बनने के लिए गये हैं और वो जान दे देंगे. खैर, बचा लिये गये हैं..." रमेश ताव खा गया, उसे अपने पिता से बेहद घृणा हो आयी.

शाम को साढ़े तीन चार बजे के लगभग दफ्तर के चपरासी आकर रमेश खन्ना को साहब का 'सलाम' बोला. उनके कमरे में रमेश ने देखा कि हाजी नबीबख्श के वैध बेटे नादिर बख्श भी बैठे हुए थे. खन्ना ने रमेश को बैठने का आदेश दिया, फिर मेज पर पेंसिल से ठकठक करते हुए बोले, "रमेश, मेरा खयाल है कि तुम लाल कुंवर बहादुर और वहीदा बेगम को जानते हो... बात ये है रमेश की कल तुम लोगों के बाद लाल साहब और वहीदन..."

"जी हां, यह भी अपने फादर इन लॉ (ससुर) से आज सबेरे सुन चुका हूं."

"मगर शायद तुम यह नहीं जानते वहीदन आज से घर से निकाल दी गयी है..."

सुनकर रमेश को अनायास ही धक्का-सा लगा, "लाल साहब ने निकाल दिया?"

"नहीं, लाल साहब तो आज सुबह कानपुर गये हैं. उनके बड़े लड़के ने निकाला है..." खन्ना साहब ने इसके बाद में संक्षेप में बतलाया कि एक जायदाद, जिसे लड़कों के बालिग हो जाने के बाद उन्हें बेचने का कोई हक नहीं था, बेचकर लाल साहब ने वहीदन को कोठी और जेवर और दिलाये थे. परसों ही लाल साहब के लड़कों और पत्नी को यह बात मालूम हुई. कल लाल साहब के घर में काफी उपद्रव हुआ था...इधर चार पुलिसवालों को रिश्वत के डंडे से हांककर त्रिवेनी सहाय ने अचानक वहीदन का घर घेर लिया, उसे लूट लिया, फर्नीचर और सामान ट्रकों पर लादकर ले गये. एक भी कमरा या कोठी इस काबिल नहीं रखी कि उसमें कोई बैठ तक सके. मगर वहीदन वहीं बैठी है. खन्ना साहब ने कहा, "मैं यह चाहता हूं कि तुम वहीदन बेगम के पास जाओ और उन्हें किसी प्रकार मनाकर ले आओ."

रमेश एक साथी की साइकिल पर तुरंत रवाना हो गया. वह कोठी जहां उसने अपने जीवन का सबसे अधिक भीषण और भयानक अनुभव पाया था; इस समय टूटी, खुदी और मलबे से भरी हुई थी. रमेश को वह बाढ़ के दृश्य से भी अधिक भयानक लगा. सारी जगह ढूंढा, वहीदन कहीं न मिली. निराश रमेश दफ्तर लौटा. खन्ना साहब ने कहा, "लाल साहब यहां जगह न पाकर शायद अपने ही घर जायेंगे. तुम एक बार उनसे मिलकर हो सके तो बात की थाह लो."

सुबह से लाल साहब कानपुर गये हैं. और उनकी सौभाग्यवती हिंडोले वाली के कमरे में लड़के और वकील बैठे हैं. और बाहर एक मेहमान, एक कॉलम लेखक, रमेश और एक शरीफ इक्केवाला खड़ा है.

'दूर से रामनाम सत्य है,' की आवाजें आने लगीं. उसके साथ ही कार का हार्न भी सुनाई दिया. 'रामनाम सत्य' की आवाजें डूब गयीं. इक्के को देखकर नयी स्टूडीबेकर गाड़ी फाटक के पास रुकी... मियां लपककर दरवाजे से आ लगे और दोनों हाथों से सलामें झुकानी शुरू कर दीं.

तनजेब का कलीदार कुर्ता, जिसमें हीरे के बटन चमक रहे थे, दोनों बाहों पर बारीक चुन्नटें पड़ी हुई..... दोहरा बदन, ऊंची पेशानी, ऊभरी हुई पतली ठोड़ी, रूआबदार मूंछें—हाथ में नाजुक-सी छड़ी लिये बैठे हुए लाल साहब ने सब पर नजर डाली. "चेहरा कुछ भूला, कुछ पहचाना सा लगा. फिर एक दम से याद आ गया, "कैसे आये?"

"जी, बात ऐसी कुछ नहीं थी, मैं दरअसल आज शाम को वहीदन बेगम से संगीत संबंधी एक खास इंटरव्यू बंबई के एक पत्र के वास्ते लेने गया था."

"खैर, अपने अखबार में मत लिखना ये सब. वहीदन को तुम्हारे ही इलाके में फिलहाल छोड़ आया हूं. एक मकान के ऊपरी हिस्से में लाला बैजनाथ जो तुम्हारे यहां हैं, उनकी वजह से जगह मिल गयी. खैर, इस वक्त तुम्हारा मंशा पूरा न हो सकेगा. अजीजमन, वहीदन मिल न सकेगी. इसदम."

"खैर न सही. इस बहाने आपके दर्शन हो गये. अब आज्ञा दीजिए."

रमेश ने उठते हुए कहा.

यह धर्म-भेद, रंग-भेद, आदि झूठी आस्थाएं आखिर कब और कैसे टूटेंगी? सच्ची आस्थाओं को आने से टूटेंगी. इसलिए काम किये जाओ अरविंद. ये भावुक चिंताएं छोड़ो. देखो, तुम्हारा रमेश इस दिशा में क्या कर सकता है...

लच्छू सुबह उठकर झटपट तैयार हो गया. दोस्तों के उपहार जेब में रखे और बगैर चाय पिये ही घर से निकल पड़ा. लच्छू को पाकर हर मित्र मगन था और लच्छू अब रमेश की सूरत देखने के लिए बेताब हो रहा था. पांचों मित्र रिक्शों पर सवार होकर नौशेरवां मंजिल के लिए रवाना हो गये. : .

दो घंटे बड़ी मौज-बहार के बीते. घड़ी पाकर रानी बेहद मगन थी. लच्छू यहां के हाल जानने को उत्सुक था और यार लोग रूस के. छैलू का गायब हो जाना लच्छू के बहाने नये सिरे से सबके लिए दुखदायी हो उठा. गोडबोले को जाना था. उसे अमरीका की छात्रवृत्ति मिल चुकी है. . .कम्मी अपना खानदानी बजाजे का धंधा नहीं करना चाहता. नौकरी, और वह भी अफसरी चाहता है. आजकल कांगरेसियों की खुशामद में लगा है. . . हूरों इधर-उधर कई अर्जियां लगाने के बाद भी सूनी आंखें लिये डोल रहा है. उसे शिकायत है कि उसके मौसा श्री आनंद मोहन खन्ना और मौसी बहनजी ने उसके लिए—अपने रिश्तेदार के लिए—कुछ भी नहीं किया. रमेश की नौकरी लगा दी, शादी करा दी. लच्छू को रूस रिटर्न बना दिया. उसे मित्रों से भी शिकायत है... किसी ने उसे एक भी प्रेमिका नहीं दिलवायी. अब सभी के सपने और कार्यक्षेत्र अलग-अलग हो गये हैं.

श्यामराव गोडबोले चला गया. जयकिशोर और कम्मी भी उसके साथ ही चले गये. लच्छे के आग्रह से रमेश ने छुट्टी लेने का निश्चय कर लिया. हूरों को बपतियाकर रोका गया. रानी तीनों के लिए पूड़ी, तरकारी और हलवा बनाकर, आप खाकर कालेज के लिए चली. घड़ीवाला कड़ा उसकी कलाई पर चढ़ा था.

सहनची में खटका हुआ, फिर खांसी फिर 'रमेश साब, रानी बहन हैं घर में. जरा उन्हें भेज दीजिए.'

. . . रमेश लच्छू से, 'मकान मालिक की नवासी हैं. . .' पर्दे के उस पार बानो की आकर्षण भरी जादुई आंखें थीं. दोनों रसोईघर वाले कैनवस के पार्टीशन की ओर बढ़ गये.

"कई दिनों से आपकी मदद चाहती हूं. बड़े भरोसे से आयी हूं. मेरा भरोसा चकनाचूर तो न कीजिएगा." बानो गंभीर हुई, रुकी और फिर गले को हल्की खंखार देकर कुछ कहते-कहते रुककर मुस्करायी, "कहो, साफ कहूं या बनाके?"

"मैं समझता हूं साफ ही कहना चाहिए?" बानो की मुस्कराती आंखें भिखारी हो गयीं, "मैं चाहती हूं कि आप मुझे मेरे लवर से मिला दें."

रमेश के मन को फिर खरोंच लगी, बानो का प्रेमी कोई और है?

"जिनकी वजह से मुझे घर से भागना पड़ा था. (रमेश अनवर नवाब से सुन चुका है, फिर भी अलम गंभीरता का लबादा ओढ़े सुन रहा है) इस वक्त तो एक बड़े मिल मालिक के दामाद हैं. मगर यह मजबूरी की शादी है. . . वो लखनऊ आये हैं, यह खत भेजा है और मेरा जवाब मांगा है."

"आप उनकी, माफ कीजिए, क्या रखैल बनेंगी?" रमेश के मन में नफरत और क्रोध का तीखापन आ गया था. बानो उतनी ही भोली और दर्दभरी मुस्कराहट के साथ उतने ही सहज ढंग से बोली, "रखैल का सवाल पुराना है. मैं आजाद रहूंगी, पढ़ूंगी, आगे कुछ नौकरी वगैरह तलाश करके अपनी जिंदगी का नक्शा आप बनाऊंगी. . . क्या मैंने कुछ गलत कहा?"

तीसरे दिन सुबह उठते ही सुना कि बानो घर से भाग गयी.

नये वर्ष का पहला दिन. शीत लहरी मैदानों में पहाड़ जमा रही थी. धूप का नाम नहीं. आज शहर के समाजवादी करोड़पति, इलाहीबख्श बावर्ची के बेटे, अल हाजी सेठ नवीबख्श पुराने सर्राफे बाजार

अपने पात्र कैसे चुनते हैं?

अपने पात्र कैसे चुनते हैं, इस पर बताया, "बाबा सीताराम की की चर्चा, मई में रायबरेली जिले के गांवों में घूमने का विचार, किसान आंदोलन वाले उपन्यास के लिए सामग्री बटोरेंगे. शिया मुसलमानों के रीति-रिवाज पर मसाला, ढोलक के गीत इकट्ठे किये. उनके डॉयलॉग नोट कर लेते हैं. परिवेश की सामग्री के बीच उन्हें फिट करते हैं. सेठ बांकेमल के चौबे इनके नाना हैं, बांकेमल सुरोंमर हैं." (अध्यापक) मुरालीलाल उप्रेति ने पूछा, "सुरोंमल नाम क्यों नहीं रखा?" अमृत, "तब अपने नाना का नाम भी देना पड़ता. 'बूंद और समुद्र' की ताई में तीन पात्रों की मिलावट है. बिल्लियोंवाली घटना मेरे ही घर की है." □

▣ संदर्भ : डा. रामविलास शर्मा की पुस्तक 'पंचरत्न'

से होकर उद्योगपुरी जाने वाली नयी सड़क के निर्माण कार्य का उद्घाटन करने जा रहे थे. अबुल हसन खां, छोटी बेगम के लख्ते-जिगर, नादिर बख्श, हाजी नवीबख्श की शादी-शुदा औरत के बेटे, नूरबख्श उर्फ खोखा मियां ढाके की एक बंगालिन तवायफ के बेटे, तीनों ही अपने अब्बा की बारात निकाल रहे थे.

हाजी नवीबख्श की सबसे बड़ी जीत यह है कि उन्होंने अपने हर काम में मजदूरों को भी हिस्सेदार बना रखा है. राधे रमन से उनकी अहंता की लड़त चूंकि आजादी के आते ही पड़ गयी थी, इसलिए मन अब हर-दम उनकी चाल-अपनी चाल के गुंताड़े ही में पड़ा रहता है. राधे रमन का हाजी-विरोधी प्रचार अपने अतिरेक के कारण सांप्रदायिकता की दुर्गंध फैलाने लगा. जो सदस्य दोनों ओर के रुपयों की मार से अनिश्चय में पड़े हुए थे, अब सोचने लगे कि लड़ाई बेकार है, वे हाजी के पक्ष में होने लगे. . .बात बनाने का अंतिम यश लच्छू को अयाचित ही मिल गया.

मुहर्रम के दिन शहर में दंगा हो गया. रमेश उस समय लोहा मंडी में था. उसे रेलवे से चुराये गये लोहे के सामान के एक बहुत बड़े गुप्त गोदाम का पता दिया गया था. ससुर और बीच-बीच में लाल से भी दंगे का रहस्य जानकर रमेश उत्तेजना से एकाएक तप गया. बात की तह में रुप्पन का छोटा लड़का मुलायम, खोखा मियां की बड़ा लड़का रफअत और एक लड़की निकली.

रमेश के मन-प्राण यह सुनकर विद्रोह कर उठे. पैसेवालों की ऐयाशी के पीछे निर्दोष व्यक्तियों की जानें जायें, माल लुटे, नुकसान हो, दंगा दबाने के लिए सरकारी मशीन को चलाने का खर्च अधिक बढ़े और सबसे बड़ी बात तो यह है कि धर्मों में वैमनस्य बढ़े और यह सब कुछ व्यक्तित्व अहंता के विघातक विस्फोटों के निमित्त हो, रमेश इसे बर्दाश्त नहीं कर पा रहा था.

खन्ना साहब के दफ्तर के कमरे में रात के साढ़े ग्यारह बजे भी सुप्रतिष्ठितों का मजमा लगा हुआ था. हाजी साहब नवीबख्श, लाला बैजू, लाला रूप चंद और डा अशरफ के अलावा स्टाफ के दो-तीन व्यक्ति इन बैठे हुए संभ्रांतों की जी हुजूरी में लगे थे. खन्नाजी बोले, "हाजी साहब, अकेले आप ही नहीं, आपका साथ देने को और भी कई आदमी शहर में निकल आयेंगे. . . और आपकी इस बात पर सोचता हूं कि कल सुबह से सारे शहर में एक शांति मिशन का दौरा जरूर होना चाहिए. . ."

दूसरे दिन सुबह खन्ना साहब के शांति मिशन पर निकलने से पहले ही रमेश और रानी दफ्तरी गाड़ी पर अपने घर हुसेनाबाद चले आये. कर्फ्यू के कारण दोनों ही की छुट्टी थी. . .

सचमुच अनवर नवाब इन दोनों की ओर से चिंतित थे. बाबादीन से खबर पाते ही लकड़ी टेकते हुए आये, क्षण-दो क्षण रमेश को इस तरह देखते रहे, मानो प्यासा पानी पी रहा हो. फिर आगे बढ़कर उसके

कंधे पर हाथ रखकर कहा, "गौड़ साहब, आपसे मेरी एक दरख्वास्त है. . ."

"हुक्म दीजिए नवाब साहब."

"साल, दो साल, छै महीने, जितने दिन भी मैं और जीऊं, आप मेरा घर छोड़कर न जाइए." रमेश भावाविभूत हो गया.

अलीगढ़ में दशहरे पर हिंदू-मुस्लिम दंगा. . . .दूसरी खबर थी कि मुरादाबाद में मुहर्रम पर शिया-सुन्नी का दंगा हो गया. और ये दोनों ही समाचार आज से एक सौ नौ वर्ष पहले की हिंदी साप्ताहिक 'बुद्धि प्रकाश' के 26-10-1853 के अंक में मैंने आज दिन में पुस्तकालय में पढ़े थे यानी दंगे उस जमाने में भी होते थे.

. . . मैं क्या करूं, मेरी नन्ही मुक्ति बंधन की ओर जा रही है. नन्ही गर्भवती है और उसका गर्भदाता एक मुसलमान है. आज सबेरे मां-बेटी में गहरी कहा-सुनी हो गयी थी.

लड़की ने प्रेम किया, उसे स्वीकार करने को मैं तैयार था. उसने मुसलमान से प्रेम किया, इसे स्वीकार करने में हिचक थी. वह बिन ब्याहे मां बन रही है—इसे स्वीकार करना तो असंभव ही था. . . यह क्या किया नन्ही ने?

"पर मैं मुसलमान से ब्याह नहीं होने देऊंगी अपनी बिटिया का!" सर्वसत्तामयी साम्राज्ञी का क्रोध तमतमा उठा. . . मैंने कहा, "कैसे रोक सकती हो? एक तो तुम्हारी लड़की बालिग है, दूसरे से उसके होनेवाले बच्चे का पिता अगर चाहे तो कचहरी चढ़ के तुमसे उसे ले जायेगा. . ."

मैं चुप हूं. क्रोध क्यों नहीं आता मुझे? क्या ज्ञान से विकसित चेतना मनुष्य को कायर बना देती है? नहीं, वह वैराग्य प्रदान करती है. . . लेकिन वैराग्य किसलिए? मैं जीवन को पाना चाहता था, न पा सका, क्या इसलिए?

अब मुझे नन्ही के हाथ के पीले कर ही देने होंगे. चार-पांच हजार रुपया उसके लिए भी चाहिए . . . राम न सही, काम का सहारा तो है. इसलिए काम कर, काम कर बावरे.

उपन्यास का नया अध्याय अब किस नायक के रूप को उभारेगा? —लच्छू. नौजवान भारत का एक रूप.

लच्छू इन सब पैसेवालों से बदला लेना चाहता है. खोखा मियां से तो उसने किसी हद तक अपना बदला भी लिया और गोपी की हत्या का बदला भी. हर तरफ से सिमटकर लच्छू का मन अब डाक्टर आत्माराम की योजना पर ही केंद्रित हुआ. योजना भले ही उसे अभी पूरी न मालूम हो सकी हो, मगर इतना तो जान ही गया है कि नयी सड़क पर कुछ दूकानें और उद्योगपुरी में कुछ उद्योग छोटी पूंजी के लोगों को आगे बढ़ाने के लिए आरंभ किये जायेंगे. भाग्य यों बनता है. भाग्य चाहे—बनाये से भी बनता है.

खोखा मियां ने नगर की अभीदोज दुनिया में प्रवेश किया. सब कुछ हुआ पर खोखा मियां को भद्र समाज में प्रतिष्ठा न मिल सकी. कैसे पायें? डाक्टर आत्माराम की नयी योजना उन दिनों बड़ी प्रतिष्ठा कमा रही थी. खोखा मियां ने डाक्टर आत्माराम को रिझा लिया. खोखा ने शहरों में सफेदपोशी और कस्बों-गांवों में बड़े-बड़े दुस्साहसिक डाकों के हल्ले बढ़ाये. अखबारों में शब्द सनसनाये; मगर उन्हीं अंकों में खोखा मियां की महत्ता पर यथाशब्द भी बरसे थे.

सबसे पहले जानकारी संयोग से रमेश ही को मिली. खोखा मियां की कुर्सी के पास एक छोटी डायरी पड़ी हुई थी. रमेश ने उठा ली. उस रात घर आकर खोखा मियां की डायरी पढ़नी शुरू की. वह फिर ऐसी उछाल मारकर पलंग से उठा है कि रानी अचानक नींद टूटने से घबरा उठी. रमेश सावधान होकर लाइट जलाने के बाद फिर पलंग पर आकर बैठ गया. रानी के कान में कहा, "मामला कहीं कुछ गड़बड़ है रानी. . . मेरा मन बोलता है कि 27 तारीख को हमारे 'इंडिपेंडेंट' को कुछ धोखा होने वाला है."

सत्ताईस अक्तूबर की रात. इंडिपेंडेंट कार्यालय के पीछे, उसी चहारदीवारी के अंदर संस्थापक निवास के ड्राइंग रूम में डाक्टर आत्माराम, श्री आनंदमोहन खन्ना, श्री लक्ष्मी नारायण उर्फ लच्छू. तीनों आदमी यों बैठे हैं मानों बोलते-बोलते बुत हो गये हों.

चौकीदार ने आके खबर दी कि प्रेस के पोर्टिको में खड़ी एक मोटर कार जल रही है. लच्छू बेतहाशा बाहर भागा. खन्ना और डाक्टर भी निकले. पोर्टिको में लच्छू का एकमात्र वैभव, उसकी शान व इज्जत धू-धू जल रही थी. आग बुझाने के प्रयास चल रहे थे.

डाक्टर बोले, "खोखा मियां ने तुम्हें अपने साथ गद्दारी करने की ये सजा दी है.

"इस गद्दारी पर तो अभिमान भी कर सकता हूं डाकसाब, लेकिन आपके साथ गद्दारी करके मैं जीवन भर यों ही जलता रहता जैसे ये—मेरी मोटर जल रही है."

रद्दू सिंह ने अपने चचेरे भाई, शहर कोतवाल शत्रुघ्न सिंह को सारी बातें बतला दीं. खोखा की डायरी अब तक पुलिस के पास पहुंच चुकी थी. शत्रुघ्न सिंह को दूसरे ही दिन रद्दूसिंह से यह नयी सूचना मिली कि सत्ताइस अक्तूबर की रात ही हत्या के लिए भी चुनी गयी है, ड्यूटी से अपने नियमित मार्ग से रात में लौटते समय हाई कोर्टवाली सूनी सड़क पर मोटर दुर्घटना के नाटक के साथ रमेश का जीवन-नाटक समाप्त किया जायेगा. इसी सूचना के अनुसार पुलिस ने जाल बिछाया था. रमेश को ठीक समय पर मैंने लोगों की नजरों से हटा लिया. . . गोलीबाजी हुई पर पुलिस की प्रबलशक्ति के सामने गुंडों को आत्म समर्पण करना पड़ा, लाल ने आत्महत्या कर ली.

उस रात खन्नाजी के आदेश से रमेश और लच्छू दफ्तर की अतिथिशाला में सोये. पास-पास लेटे, सिगरेट पीते हुए रमेश बोला, "मैंने सपने में भी न सोचा था कि खोखा मियां की डायरी में इंडिपेंडेंट पर आक्रमण के साथ जुड़ा हुआ 'के' मेरा यह खन्ना होगा."

"वो खन्ना मोटर की शराब पिये हुए थे. उसका मुर्दा अब फुंक चुका. अब अपने लच्छू के जौहर देखना."

मित्र के जोश का समर्थन रमेश ने गर्मजोशी से उसका हाथ पकड़कर किया.

आठ उन्तीस, रात्रि उपन्यास पूरा हुआ. . .चलो, एक काम और पूरा हुआ. हैमिंग्वे का अभागा औपन्यासिक नायक, बूढ़ा मछेरा अपनी ड्यूटी पूरी-पूरी बजाकर अब फुरसत पा रहा है.

एक माह छह दिन पहले लिखी हुई अपनी अंतिम पंक्ति पर नजर जाती है तो मेरा जी घुट-घुट के रह जाता है. तब जीने का हौसला जागा था, अब सिर्फ मरने ही की हौंस है . . . हमारा बेटा हमें दगा दे गया. उसने आत्म-हत्या कर ली . . .आज से ठीक एक मास पहले . . . इसी समय. क्या कहूं कैसे कहूं? . . .यश-अपयश मनुष्य के बश में नहीं है. फिर यह मरण क्या मेरे उमेशो के अपने हाथों से हुआ है—मार डाला मेरे बच्चे को उस रुपये की महत्ता ने, पैसे-ओहदेवालों और उनके बाल बच्चों की स्वकल्पित व्यक्ति-स्वातंत्र्य की मान्यता ने, मेरे बच्चे के गुलाम बनने के गुनाह ने. वे मोह और लोभ-लिप्साएं अब भी विद्यमान हैं, जिनके कारण मेरे बच्चे को अपनी जान गंवानी पड़ी. इन अज्ञान के प्रतीकों से जूझे बिना ही रह जाऊं? विश्राम करूं या मर जाऊं? तब तो मैं हैमिंग्वे के बूढ़े मछेरे से हार जाऊंगा. जड़-चेतनमय, विष-अमृतमय, अंधकार-प्रकाशमय जीवन में न्याय के लिए कर्म करना ही गति है. मुझे जीना ही होगा, कर्म करना ही होगा. यह बंधन ही मेरी मुक्ति भी है. इस समय भी मेरे दो जीवनाधार तो हैं ही. धुर बचपन में मुझे ढकेलकर अपने साथ दौड़ा ले चलने वाला मेरा अनन्य साथ बकड़ा, और दूसरा यह औपन्यासिक नायक मछेरा. □

उपन्यास का संक्षिप्त रूपांतर : सुरेंद्र अरोड़ा

सदाबहार नागरजी

▣ प्रभाकर माचवे

नागरजी के व्यक्तित्व और कृतित्व में एक विशेष मोहकता है जो उनसे मिलने वाले किसी भी व्यक्ति को आकृष्ट कर सकती है. . . प्रस्तुत हैं डा. प्रभाकर माचवे, बाला दुबे और इंदु प्रकाश पांडेय के विचार कि नागरजी ने उन्हें कहां, कब, और किस तरह प्रभावित किया. . .

'जुनून' की शूटिंग के दौरान बांये से—नागरजी, (स्व.) प्रतिमा नागर और श्रीमती जेनिफर कपूर

सन 1938, तब मैं आगरे में दर्शनशास्त्र एम. ए. (फाइनल) का विद्यार्थी था. राजा की मंडी में एक छोटे से गैरेज में रहता था. देखता क्या हूं एक दिन खरामा-खरामा चलते हुए दो मस्तमौला दुबले-पतले नौजवान, लौरेल-हार्डी की तरह, मुझे खोजते-खोजते मिलने आ गये. मुंह में पान रखा हुआ, कंधे पर पीला-सा रेशमी शाल, धोती-कुर्ता. बोले—मैं अमृतलाल हूं, और यह हैं नरोत्तम नागर. अमृतलाल तब भी मुक्त ठहाका लगाकर वैसे ही हंसते थे, जैसे आज भी. नरोत्तम के पतले होंठ व्यंग से वक्र होते थे. याद नहीं तब क्या-क्या बातें हुई. पर तब वे लोग 'उच्छृंखल' पत्रिका निकालते थे, और जैनेंद्रजी पर 'भाभी-अंक' निकाल चुके थे. नरोत्तम ऋषभचरण जैन की एक दिल्ली से निकलने वाली सिनेमा की पत्रिका 'रंगभूमि' के संपादक थे. तब जाना कि नागर जी मूलत : गुजराती, आकर उत्तर भारत में बस गये. बाद में तो उन्होंने लखनऊ में 'उप-नागरिकाओं पर 'ये कोठेवालियां' पुस्तक लिख डाली. रसिक जीव नित्य विजया-सेवी.

फिर नागरजी से भेंट हुई बंबई में. प्रगतिशील लेखक संघ की बैठकों में, इप्टा में और अनेक बार शिवाजी नगर में. एक बार तो मुझे और पत्नी को नागरजी स्टूडियो में 'शूटिंग' कैसी होती है, यह दिखाने ले गये. तब 'लोक-युद्ध,' और 'नया साहित्य' के गत महायुद्ध के पी. सी. जोशीवाले दिन थे. बंबई में बहुत से प्रगतिवादी हिंदी लेखकों का जमावड़ा था. नरेंद्र शर्मा, डा. जगदीश चंद्र जैन, रमेश सिन्हा, शमशेर बहादुर सिंह, नेमिचंद्र जैन, बंशीधर, बलराज साहनी, अमृतलाल नागर आदि. तब राम विलास शर्मा, 'अगिया-बैताल' नाम से राजनीति व्यंग कविताएं लिखते थे. अमृतलाल नागर ने 'नया साहित्य' के शुरू के अंकों में 'सीमिआई' उपनाम से सिनेमा पर भी लिखा था, याद आता है. अब यह सब बातें इतिहास की वस्तुएं हो गयीं.

अमृतलाल नागर ने तब बंगाल के अकाल पर 'महाकाल' उपन्यास लिखा 1943 में. पर मुझे उनकी चुलबुली शैली में लिखे गये. 'नवाबी मसनद' और 'सेठ बांकेमल' सबसे अच्छी किताबें लगती हैं. उपन्यासेतर अन्य कामों में उनके दो बड़े महत्वपूर्ण अनुवाद हैं. मराठी से गोडसे-गुरुजी का 1857 में लिखे 'माझा प्रवास' का अनुवाद. और तमिल की 'शिलप्पाधिकारम्' पर आधारित (पहले रेडियो के लिए बाद में उपन्यास रूप में परिणत) 'सुहाग के नूपुर.'

व्यक्ति नागरजी से साहित्यिक नागरजी अलग किये ही नहीं जा सकते. यही उनकी विशेषता है.अब वह लिखने वालों की पीढ़ी कम होती जा रही है. जो मुक्त हृदय से मुक्त मन से जीवन जीती थी. जो जीवन में देखती-सुनती थी, वही प्रामाणिक ढंग से लिखती थी. सूरदास पर लिखने लगे जो ब्रज-भूमि से समरस हो गये. तुलसीदास पर लिखा तो अवध के जीवन के चप्पे-चप्पे को छान मारा. 'बूंद और समुद्र' में तो लखनऊ के चौक का 'सां एल्यूमिनेर' सामने आ गया. सब कुछ जीवंत छविमय, वही ध्वनियां, वही गंध, वही स्पर्श. नागर की महत्ता इसी 'भूमि स्पर्श मुद्रा' में है. इसी से वे भंगियों के बारे में लिखें या रंडियों के, कहीं भी खोटा सिक्का बजता नहीं, लगता सब कुछ एकदम सौ टका 'आथेंटिक' है.

इसका मूल रहस्य उनकी मंडलीबाजी में है. उनके घर में सदा सब तरह के लोगों का जमघट बना रहता था. उनके आतिथ्य का कोई जवाब नहीं. छोटे-बड़े सब तरह के लोग, पढ़े-लिखे विद्वान-अनपढ़ सब नागरजी की चौपाल में उनके कहकहों में शामिल. नागरजी भाषा इस तरह जनजीवन के निकट—संपर्क से सीखी. अंग्रेजी किताबें पढ़-पढ़कर और डिक्शनरियों से नहीं. वैसे कई बोलियों और भाषाओं पर अधिकार रखते हैं. जब मैं लखनऊ गया था, उनकी पत्नी चौकवाले घर में थीं. उन्होंने कहा अब तो, नागरजी, दूर कहीं मकान बना रहा है, वहां रहने चले गये हैं. आपको वहां पहुंचने में कष्ट होगा. पर मुझे मिलना जरूरी था. मैं खोजता-जकर वहां पहुंचा. वही पान की गिलौरी, वही मिठाई देते हुए बोले—देखिये, अब कान से भी कम सुनाई देता है. आंखें भी कमजोर हो गयी हैं. पर हौसला यह है कि एक बृहद उपन्यास 1857 से 1947 तक के भारत की पट-भूमि पर लिख रहे हैं, कई पीढ़ियों वाले पात्रों का. अद्भुत जीवट है अमृतलाल जी में. ऐसे अमृत लेखनी से सदाबहार व्यक्तित्व भारतेंदु के बाद हिंदी में बहुत थोड़े हुए हैं. जुग-जुग जियें अमृत लाल. . . . □

लापता होना नागरजी का . . .

▣ बाला दुबे

अप्रैल सन् 1981. इतना याद है कि पहली अप्रैल का दिन नहीं था. सुबह के ग्यारह बजे गांधी शांति प्रतिष्ठान में नागरजी से जैराम जी की हुई और लगे हाथ भांग-ठंडाई का प्रोग्राम भी बन गया. यह कोई अजूबा बात नहीं थी. बल्कि एक सोशल कांट्रैक्ट था कि जब मैं नागरजी के पास लखनऊ जाता या वे मेरे शहर में आते तो सिल-लोढ़ी खटकने लगती. वैसे यह दिन बहुत ही शुभ और स्मरणीय था. नागरजी को 'पद्मविभूषण' बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था और इधर विश्वनाथजी ने इनकी पुस्तक 'खंजन नयन' की गोष्ठी भी रख दी थी. इस दिन नागरजी दिल्ली में दो चिड़ियों को एक ही तीर से मार रहे थे. और भी हर्ष की बात यह थी कि 'बा' भी आयी हुई थीं. मैंने नागरजी से पूछा, "खाना कैसा रहेगा. . . . मांस-मछली या घास-पात ?" मांस का नाम सुनते ही नागरजी हंसे, "पंडितों के साथ ऐसा मजाक ? आज तो कढ़ी चावल बने तो आनंद आये." विजया का 'मीनू' तो पुराना था ही—बादाम, पिस्ते, मुनक्के, केसर और काली मिर्च . सिल-लोढ़ी बज उठी. लुढ़िया तो शंकर भगवान तसुव्वर करके उन पर विजया-भोग चढ़ाया गया. और फिर छककर पी गयी. कुछ देर तक 'वतन की गल' हुई, खाना उड़ा और फिर करीब तीन बजे मैं, बा और नागरजी को गांधी शांति प्रतिष्ठान छोड़ आया.

'बैंग फाइव थर्टी' पर हम गांधी प्रतिष्ठान के फाटक में घुसे, एक तो विजया भवानी की मंद-मंद कृपा और अंतरमन में हर्ष कि आज पद्मविभूषण अमृतलाल नागर की पुस्तक 'खंजन नयन' का 'पोस्टमार्टम' करने हिंदी साहित्य के दिग्गज 'सर्जन' भी अपनी अपनी छुरी-कैंची का प्रयोग करेंगे. देखते क्या हैं कि हाल के दरवाजे पर विश्वनाथजी, ईश्वर चंद्रजी, अचला नागर और कोई दस-बारह सज्जन हाथ में मालायें पकड़े खड़े हैं. मेरी कार देखते ही वे चिल्लाये, "आ गये, आ गये."

भंग के झोंके में पहले मुझे ऐसा आभास हुआ जैसे मैं ही नागरजी होऊं. फिर मैंने आंखें मिचमिचा कर देखा और सोचा 'या इलाही ये माजरा क्या है.' वे लोग बोले, "नागरजी कहां हैं?" मैं भौचक.

"नागरजी ? नागरजी तो मेरे साथ आये नहीं हैं." अब ईश्वर चंद्रजी घबराये.

कुछ भाइयों को शक भी हुआ कि हो न हो इस पट्ठे ने नागरजी को 'किडनैप' कर लिया है. विश्वनाथ जी बगैर संतुलन खोये बोले, "तो क्या नागरजी आपके साथ दोपहर को नहीं गये थे ?"

मैंने कहा, "जरूर गये थे." उन्होंने मेरे साथ खाना खाया था. 'बा' साथ में थीं. मैं उन्हें यहां तीन बजे छोड़ गया था."

यह सुनते ही हड़कंप मच गया.

"तो फिर नागरजी कहां लापता हो गये ?" सभी सोचने लगे. कोई भीतर भागा तो कोई बाहर. कुछ भाई लोग ऊपर चढ़ने लगे. मैं घबराया. हे राम, अगर नागरजी नहीं मिले तो मेरी खटिया खड़ी हो जायेगी. पद्मविभूषण को 'किडनैप' करने के शक पर कहीं ऊंच-नीच हो गया तो लेने के देने पड़ जायेंगे.

भंग की तरंग में दिल में दुगन लय से जल-तरंग बजने लगी. तभी अचला नागर चिल्लाती हुई आयी, "मिल गये, मिल गये." नागरजी मजे से ऊपर कमरे में सो रहे थे. . . . साढ़े पांच बजे तक. □

नागरजी से मुझे बल मिलता है

▣ इंदु प्रकाश पांडेय

मुझसे सात हजार किलोमीटर की दूरी पर जर्मनी में रहते हुए भी, उनका स्नेहसिक्त अनुग्रह सतत प्राप्त है. मैं प्राय : अपने देश की सामाजिक और धार्मिक विसंगतियों को देखकर डरता रहता हूं और मन में ऐसा भाव बढ़ता जाता है कि यह सुसंस्कृत समाज शीघ्र ही विशृंखल हो जायेगा. नागरजी से मुझे बल मिलता है और मेरा भ्रम कुछ-कुछ दूर होने लगता है. वे बड़े ही आत्मविश्वास के साथ मुझसे कहते हैं, "1857 के बाद देश में जो स्थितियां आयीं और जिन से अनेक प्रकार के उखाड़-पछाड़ की श्रृंखला चली, आज तक चली आ रही हैं. अभी तक कोई स्पष्ट रूप नहीं बन पाया परंतु मेरा अटल विश्वास है कि भारतीय समाज कितना भी इधर-उधर भटके, वह अपनी मूल आस्था को नहीं छोड़ पायेगा." इतना आस्थापूर्ण आशावाद मैंने किसी अन्य कलाकार और चिंतक में नहीं पाया. पश्चिमी जर्मनी के लोग इस समय विकट आतंक में रह रहे हैं कि न जाने कब अणु युद्ध शुरू हो जाये और मानवीय सभ्यता का विनाश हो जाये. इनके साथ 18 साल से रहते हुए मेरे मन में भी अनेक प्रकार की आशंकाएं बैठ गयी हैं. अत : जब मेरा भयाकुल मन नागरजी का सामीप्य प्राप्त करता है, तो आश्वस्ति का अनुभव करता है. अपने देश को लेकर मेरे मन में और भी अधिक डर है कि कहीं और भी भयंकर विस्फोट न हों. तो उनसे यह सुनकर कि, "हम अंधकार से नकल कर प्रकाश में आ रहे हैं और प्रकाश की चकाचौंध हमें सहनी है." डर का कुछ हद तक शमन होता है. जब उन्हें लगता है कि उन की यह बात पूरी मेरे मन में स्थान नहीं पा रही है, तो वे विश्वास दिलाते हुए मुझसे कहते हैं, "मैं यह नहीं मान सकता कि प्रकाश गलत है. समाज पतन की ओर नहीं जा रहा. देश रसातल में जा रहा है यह मैं नहीं मानता. ये संक्रांति काल की कठिनाइयां हैं, जिनसे मैं घबरा नहीं रहा हूं." दो प्रमुख विशेषताओं के कारण मैं उन पर मुग्ध हूं, निछावर हूं. एक तो स्वयं पर हंस सकने की उन की अद्भुत सामर्थ्य और दूसरी विशेषता है कि वे अन्य व्यक्ति को स्नेह और सम्मान देते हैं. बिना किसी लाग-लपेट या कुंठा के दूसरे को अपना लेते हैं और अपनी भूल पर हंस लेते हैं. एक बार वे मुझे बताने लगे कि प्रारंभ में उनकी भाषा पर प्रसाद और चंडी प्रसाद पांडेय की भाषा और शैली का बड़ा रंग चढ़ गया था. 'माधुरी' के संपादक पंडित रूपनारायण पांडेय ने तब एक बार उनसे कहा, "अब तो आप बहुत विद्वान हो गये हैं. अब तो आपकी कहानियों में फुटनोट लगाने पड़ेंगे." यह कहकर वे स्वयं काफी देर तक जोर से हंसते रहे. नागरजी से उनके उपन्यास 'बूंद और समुद्र' को लेकर मेरी बहुत बातें होती हैं. जब मैंने उन्हें बताया कि बाला के शुक्ल महिपाल का विवाह गेनासों के पांड़े परिवार की कल्याणी से करवा दिया है, जो संभव नहीं. तो बड़े अचरज में पड़ गये. बड़ी चिंता के साथ पूछा, "काहे भैया?" मैंने बताया तो अपनी इस चोट पर बारबार सोचते और रह-रहकर हंसते, 'अभी मुझे कितना और जानना है.' मुझे पछतावा होने लगा. और अधिक से अधिक ज्ञानार्जन के लिए उन्होंने क्या कुछ नहीं किया, कोठों पर गये और कोठेवालियों से इंटरव्यू लिये, लखनऊ में कई खुदाई करायीं. केवल हाई स्कूल उत्तीर्ण नागरजी अपने स्वाध्याय और अध्यवसाय से न केवल हिंदी के महान कहानीकार और उपन्यास-लेखक बन गये, एक पुरातत्ववेत्ता, समाजशास्त्री एवं भाषाविद भी बन गये. अंग्रेजी, बंगला, गुजराती, मराठी, उर्दू तथा तमिल भाषाओं का अच्छा ज्ञान है. उनका इतिहास-ज्ञान तो अनेक उपन्यासों में अपने पूर्ण रूप से में प्रकट है. अपने को उनके पास रखकर सोचने में मुझे सुख मिलता है. □

गढ़कोला में पहली निराला जयंती

कहानी के भीतर कहानी की बात तो ठीक लगती है, लेकिन संस्मरण के अंदर संस्मरण की बात कुछ अजीब लग सकती है, लेकिन निरालाजी के गांव में उनकी पहली जयंती पर लिखा नागरजी का यह संस्मरण कुछ ऐसा ही है, जो उनके किस्सागो पर भारी पड़ उन्हें बहुत बड़ा संस्मरणगो साबित करने के लिए पर्याप्त है. प्रस्तुत है 'गढ़ाकोला में पहली निराला जयंती' का संक्षिप्त रूपांतर—

एक बार फिर वसंत पंचमी आयी—निरालाजी के निधन के बाद पहली वसंत पंचमी. गढ़ाकोला ग्राम से निरालाजी के भतीजे श्री बिहारीलाल त्रिपाठी और उनके अन्य दो-चार सगे संबंधी मेरे यहां आये. वे लोग गढ़ाकोला में निराला जयंती मनाना चाहते थे.

तय हुआ कि मैं वसंत पंचमी के दिन सुबह पहली बस से पुरवा पहुंच जाऊं. वहां से वे लोग मुझे गढ़ाकोला ले जायेंगे.

सुबह साढ़े आठ-नौ तक बस पुरवा पहुंच गयी. हम बस से उतरे. वहां सब कुछ था, मगर गढ़ाकोला पार्टी के लोग कहीं नहीं दिखलाई पड़े. आध घंटे के बाद आखिर बिहारीलालजी दो अन्य व्यक्तियों के साथ साइकिलों पर आ पहुंचे. उन्हें देखकर जान में जान आयी. तभी एक दूसरी समस्या उपस्थित हुई. बिहारीलालजी ने किसी से बैलगाड़ी का प्रबंध किया था. ऐन समय पर लढ़ापति ने लढ़ा देने से इन्कार कर दिया. पुरवा में दो-तीन इक्के तो अवश्य खड़े थे, पर वे चुनाव के दिनों में एक खादीधारी नेतानुमा व्यक्ति को गढ़ाकोला ले जाने के लिए पांच रुपये मांग रहे थे.

बिहारीलाल जी बड़े पशोपंज में पड़े.

मैं स्वयं भी थोड़े रुपये लेकर ही घर से चला था. इसलिए एक ओर के पांच रुपये रेट पर राजी न हुआ.

अब क्या किया जाये. सामने तीन साइकिलें ही नजर आ रही थीं.

साइकिल चलाना मैं वाजिब ही वाजिब जानता हूं, लेकिन यहां साइकिल के अलावा और कोई साधन ही नजर न आया. सोचा कि बजरंगबली का नाम लेकर अब इसी पर चढ़ा जाये. जो होगा, सो देखा जायेगा.

एक जगह टांग उछालने भर का एक जरा ऊंचा-सा मिट्टी का ढूह था. उसके सहारे साइकिल पर सवार हो गया. कच्ची बलुहा सड़क पर नजर के किनारे-किनारे हम चल पड़े. राह चलते बातें होने लगीं. पता लगा कि शिवधारी त्रिपाठी के चार लड़के हुए : गयादीन, जोधा, रामसहाय और रामलाल. गयादीन के दो लड़कियां हुईं. जोधा के बदलू प्रसाद हुए. रामसहाय के सूर्यकुमार. और रामलाल निःसंतान मरे. सूर्यकुमार बाद में अपना नाम बदलकर सूर्यकांत हो गये और कवि होने के कारण उन्होंने निराला उपनाम धारण कर लिया. बदलू प्रसाद के चार बेटे बिहारीलाल, रामगोपाल, केशवलाल और कालीचरण. सूर्यकांत के पुत्र रामकृष्ण और बेटी सरोज हुई. बिहारीलाल भाई ने मुझे बतलाया था कि भाइयों-भाइयों में कुछ कहा-सुनी हुई तो रामसहाय बाबा खेत में खुरपी गाड़ के गांव से चले गये. वे ऊंचे-पूरे व्यक्ति थे. कलकत्ता-पुलिस में उन्हें नौकरी मिल गयी. होते-करते जमादार हो गये. फिर हुवां लाट साहब के मन चढ़ गये और उनकी अरदली में चले गये. लाट साहेब हमेशा रामसहाय बाबा को अपने साथ-साथ रक्खैं. तो एक बार महिसादल महराज के हियां लाट साहेब गये. महिसादल महराज ने रामसहाय बाबा को देखा तो लाट साहेब से कहा कि इन्हें हमें दे दीजिए, हमारे यहां ऐसा कोई जमादार नहीं है. लाट साहब ने उन्हें दे दिया. रामसहाय बाबा महिसादल में रहने लगे. फिर साल-भर बाद रामलाल बाबा भी वहीं चले गये.

सरसों स्वर्ग की लक्ष्मी की तरह खेतों में अंतरिक्ष से अंतरिक्ष तक छायी हुई थी. दायें-बायें जिधर भी दृष्टि घूमती, सरसों का पीलापन मन को बांध लेता था.

हम लोग नहर के दाहिनी ओर मुड़े. पेड़ों के झुरमुट के पार मंदिर का कलश चमक रहा था. यही गढ़ाकोला था. मन में एक फुरफुरी-सी दौड़ गयी. ग्राम गढ़ाकोला, पोस्ट चमियानी, जिला उन्नाव को निरालाजी अपनी कहानी 'चतुरी चमार' में सदा के लिए अमर कर चुके हैं. सच तो यह है कि गढ़ाकोला मेरे मन में निरालाजी के गांव से अधिक चतुरी चमार के रूप में बना हुआ है. यहां आते ही 'कान्कि नाउ' और 'चतुरी चमार' की याद आने लगी. कलाकार

का बड़प्पन इसी में है कि उससे अधिक पाठकों को उसके पात्रों की याद आये.

खेत पृष्ठभूमि में छूट गये. बस्ती आने लगी. मिट्टी के कच्चे घर, उनमें भी अधिकांश खंडहर, गलियां बीच में धंसी और गड्ढों से भरी हुई. घरों के सामने कई जगह मच्छरों के गुच्छों से आच्छादित नाबदान. कहीं गायें, कहीं बैल और कुत्ते.

गलियों में चक्कर लगाते हुए हम एक मकान के सामने आ खड़े हुए. पुरानी नक्काशी वाले द्वार पर एक कागज चिपका था. उस पर लिखा था : 'महाप्राण निराला स्मारक भवन'. मैंने बिहारीलालजी से कहा, "घबराइएगा मत, आपका यह कागज संगमरमर से अधिक टिकाऊ सिद्ध होगा."

वह बेचारे कुछ समझे नहीं, झेंपकर बोले, "क्या करें पंडितजी, अपने मन का हौसला पूरा कर लिया. नहीं तो जौन आप संगमरमर के पत्थर की बात कर रहे हैं. वहै हमरेउ मन मां रही. आज तो निराला काका सबके हैं, पर एक दिन रहा, जब निराला काका हमरे हे हमरे रहे. इनफ्लुंइजा में हमारे बाप-महतारी मर गये. हम नान्ह-नान्ह रहे. निराला काका चक्की पीसें, हमका बनाय के खवावैं, हमका पालैं. रामकेसन होरे तौ डलमऊ मां रहत रहें नाना मियां के हिया, और निराला काका हमारे पास रहै. काकी हमारी गुजर गयी रहैं तो इन्हैं ब्याह के लिए बहुत लोग घेरैं, बहुत देखुआ आवैं. एक बाजपेईजी रहे. उइ आये और कहै लगे, महाराज, आपकी कुंडली मां दूसर बिहाव लिखा है. काका कहिन, अरे, जब हमहैं न करब तो कहां ते होई.

अपनी जन्मपत्री के ग्रह-नक्षत्रों को निराला ही पछाड़ सकते थे. अनेक लोगों ने अनेक बार उनकी कुंडली देखकर बताया है कि दूसरा विवाह लिखा है, पर जब निराजी ही नहीं करना चाहते थे, ग्रह-नक्षत्रों की हस्ती ही क्या थी, जो उनका विवाह करवा सकते.

घर के आगे दाहिनी ओर पर एक छोटी-सी खुली जमीन थी. वहां शामियाना लगा था, तखत पड़े थे. तखत पर एक चौकी पर एक लोहे की कुरसी रखी हुई थी. मैंने बिहारीलालजी से लखनऊ में कहा था कि निराला जी का चित्र ले आऊंगा. अनेक वर्षों पहले मेरे छोटे भाई प्रख्यात चित्रकार मदनलाल नागर ने प्रयाग जाकर निरालाजी का एक छोटा तैलचित्र बनाया था. उसके आधार पर फिर एक बड़ा तैलचित्र भी उसने बनाया, जो अब लखनऊ महापालिका के संग्रहालय में सुरक्षित है.

छोटा चित्र अनेक वर्ष हुए, निराला जयंती के अवसर पर एक कवि महोदय मुझसे मांग ले गये थे. फिर उन्होंने उसे लौटाया ही नहीं. मैंने बिहारीलालजी को वही चित्र ला देने का वचन दिया था. कवि बंधु के यहां से चित्र तो खैर मैंने किसी तरह मंगवा लिया, पर राम जाने उन्होंने उसे सीलन पानी में डाल रखा था कि तस्वीर पूरी तौर पर नष्ट हो गयी थी.

बिहारीलालजी ने उसी चित्र की आशा में यह सिंहासन सजाकर रखा था, पर अब क्या हो. एक सज्जन बोले, "धर्मयुग में निराला-जी का चित्र है. उसे ही काटकर किसी लकड़ी के तख्ते पर चिपका दिया जाये."

'धर्मयुग' का अंक आया. किसी विद्यार्थी की पट्टी आयी. किसी ने किसी को लेई बनाने का हुकुम दिया. मैंने कहा, "उसकी आवश्यकता नहीं. धर्मयुग से चित्र को फाड़ने की आवश्यकता नहीं, डोरी ले आइए. सरसों के फूल ले आइए. काम बन जायेगा."

मैंने पट्टी पर धर्मयुग के पन्ने उलटकर वह चित्र बांधा, सरसों के फूल चारों ओर से इस तरह खोंसे कि उनका फ्रेम बन गया. गेंदे के फूल भी आ गये. उन्हें बीचोंबीच में सजाया. ऐसी शोभा आ गयी कि क्या कहूं.

बिहारी लालजी ने अपनी शक्ति-भर बड़ा आयोजन किया था. आसपास के गांवों में लोगों को न्योता भिजवाया था. झंइयम-झंइयम बाजा भी मंगवाया था. ऐसा लगता था कि जैसे रामसहाय त्रिपाठी के घर आज ही सूर्यकुमार का जन्म हुआ हो.

शामियाने के नीचे, बल्कि यों कहूं कि उसके बाहर एक पुरुष बैठे थे. किसी ने बताया कि वे चतुरी के भतीजे भगवानदास हैं. उनकी आयु बकौल उनके पांच ऊपर सत्तर थी. मैंने पूछा, "पंडितजी जब पहली बार बंगाल से गांव आये तो उनकी क्या उमर थी?"

भगवानदास बोले, "कनिया मां रहे, तब दुई एक दांई आये रहे. बाकी ग्यारा-चौदा बरस के रहे, तब उइ हिया आये. बारा-बारा 'ग्यांद' खेलें..." इस पर महावीर नाम के एक सज्जन बोले, "गोली दिन-दिन भर ख्यालैं. वे पांचों उंगलियों से अलग-अलग गोली मार लेते थे."

भगवानदासजी का भाव उमड़ रहा था. कहने लगे, "पंडितजी, हम पंचन का इतना मानत रहैं कि अपने परिवरहन न मानैं और फिर जब उइ बड़े हुइके हिया आवैं तौ हम पंचै उनका छाड़ि कै कौनौ काम नहीं किहिन. कुस्ती लड़ावैं का बहुत सौक रहा. सबका एक-एक लंगोट बनवाइ न."

राष्ट्रीय आंदोलन में निरालाजी ने अपने गांव के जमींदार के अत्याचारों के विरुद्ध बहुत बड़ा आंदोलन चलाया. श्री गयाप्रसाद, श्री भगवानदास, श्री महावीर एक में एक बात जोड़कर सुनाने लगे, "मिटिन होत रहे. एक मीटिन निरालाजी कराइन, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' आये रहे, देबिन के पास तंबू गाड़ि के मीटिन भै. वहु जमाने मां लगान अदाई तौ होति न रहे, तौन रैयतु मारी-पीटी जाये, वहौ जमाना मां दुई-चार पिटवायेगे, तौन निरालाजी रिसायगे, किसान संगठन कहाइन, पूरे गांव जमीनों का इस्तीफा कराय दिया—दुई-चार लोग चाहे न किहिन होय, बाकी सब किहिन. साल-भर जमीन परती पड़ी रही."

निरालाजी के आंदोलनकारी रूप की कल्पना तो मैं सहज ही कर सकता था. चतुरी चमार में उन्होंने उन दिनों का ब्योरा दिया है. अन्याय के विरुद्ध अपनी आवाज को उठाये बिना निरालाजी रह ही नहीं सकते थे.

अवधी के एक तरुण कवि सूरजप्रसाद द्विवेदी निरालाजी द्वारा बीघापुर स्टेशन पर लालमणिजी को थाल-भर बर्फी खिलाने का किस्सा सुनाने लगे. बोले, "यह बात मैंने लालमणिजी से सुनी थी और इस पर मैंने एक कौवाली भी लिखी है." कव्वाली का नाम सुन हमें मजा आ गया. सुनाने के लिए कहा. सूरजप्रसादजी सुनाने लगे.

आज बर्फी मिले खाऊं तो मजा आ जाये,
और चाकू से छिलाऊं तो मजा आ जाये.
दोस्तो, सुन लो ये किस्सा बड़ा पुराना है,
महाकविराज निराला को जगत माना है.
गढ़ाकोला में जन्मभूमि काम्य माना है,
रहे प्रयाग तीर्थराज मन लुभाना है.
वही दृष्टांत सुनाऊं तो मजा आ जाये,
आज बर्फी मिले, खाऊं तो मजा आ जाये.
आ रही गाड़ी बरेली से चली बीघापुर,
खटाखट बांट रहे थे टिकट खड़े माथुर.
प्लेट फारम में शोरगुल मचा जैसे दादुर,
दो युवक कर रहे थे बातचीत प्रेमातुर.
मित्रवर मन की बताऊं तो मजा आ जाये,
आज बर्फी जो मिले, खाऊं तो मजा आ जाये!
सुना तो निराला जी मुस्कराये हैं
बढ़े पांवों ही वहां से तुरत सिधाये हैं.
उठा दूकान से बर्फी का थाल लाये हैं,
सामने लाके रखा मृदुवचन सुनाये हैं.
अभी बैठो मैं खिलाऊं तो मजा आ जाये,
आज बर्फी जो मिले, खाऊं तो मजा आ जाये!
देख लीला को निराला की वह लजाये हैं,
चकित होके चरन कमलों में सर झुकाये हैं.
ठान हठ थाल में ही बर्फियां खिलाये हैं,
थाल लौटाते हुए दाम को चुकाये हैं.
कमल 'सूरज' जो बढ़ाऊं तो मजा आ जाये,
आज बर्फी जो मिले, खाऊं तो मजा आ जाये!

मगरायर के श्री रेवती शंकर शुक्ल ने निरालाजी के पहलवानी के किस्से सुनाये. उन्होंने बताया कि गढ़ाकोला में एक रईस रहा करते थे. निरालाजी से उनकी बड़ी मैत्री थी. उन्हीं की प्रेरणा से चौरसियाजी ने मगरायर में वीणापाणि पुस्तकालय की स्थापना भी की. पंडित नंददुलारे वाजपेयी भी मगरायर ग्राम के निवासी हैं. निरालाजी तथा उनके

पिता चौरसियाजी से मिलने के लिए अक्सर वहां आया करते थे. उन दिनों निरालाजी को पहलवान बनने का बड़ा जोम था. खूब कसरत करते थे और बदन बनाते थे. एक दिन चौरसियाजी से बोले, "बाबूजी, कोई जोड़ नहीं मिलती."

चौरसियाजी बोले, "घबराओ मत. परागी पहलवान को बुलवाया है."

"कहीं बाहर का रहने वाला है?"

"नहीं, है तो यहीं का, पर आजकल बाहर गया हुआ है."

"तो उसे झटपट बुलवाइए."

उसके बाद से निरालाजी परागी पहलवान से कुश्ती लड़ने के लिए आतुर रहने लगे. एक दिन चौरसियाजी ने बताया कि परागी आ गया है.

दूसरे दिन हस्तमेहिंद बने हुए झूमते-झामते अखाड़े में पहुंच गये. परागी ने एक-एक करके उन्हें चार बार पटकनी दी. दूसरे ही दिन एक मटकी घी लेकर निरालाजी परागी पहलवान के यहां पहुंचे. बोले, "पहलवान, खूब लड़ते हो. ये लो, घी खाओ."

उसके बाद परागी पहलवान से निरालाजी की बड़ी दोस्ती हो गयी. परागी के अलावा उस क्षेत्र में दुलारे काछी का भी पहलवानी में बड़ा नाम था. एक बार निरालाजी के हौसले और चौरसियाजी के पैसे के बल पर उन दोनों का दंगल कराया गया. दुलारे काछी का बड़ा दबदबा था, लेकिन जब परागी ने उसे पछाड़ दिया तो निरालाजी ऐसे प्रसन्न हुए मानो उन्होंने ही कुश्ती जीती हो. परागी से बोले, "तुम्हें सोने का मेडल दूंगा."

निराला जी और सोने का मेडल. मिट्टी का भी देते तो सोने से बढ़कर होता.

मजमे में एक चितचोरजी भी थे—पास ही के राजापुर गढ़ेवा गांव के रहने वाले. निरालाजी के इलाके में मुझे अगर चितचोर न मिलते तो मजा अधूरा रह जाता. लाखों की हैसियत से कम तो ये बात ही नहीं करते थे और हाल बड़ा पतला था. कहने लगे कि "निरालाजी हमसे बहुत कहें कि चितचोर, कविता लिखो, चितचोर कविता लिखो, पर हम कहें कि नहीं. फिर अभी हाल ही में हमने सोचा कि निरालाजी हमारे बैसवारे के रतन रहे, मित्र रहे, इतना कहत रहे तो लाओ, कविता लिखें. फिर क्या था नागरजी, हमने पांच कविताएं लिख डालीं. आपको सुननी पड़ेंगी."

पांचों कविताएं चितचोरजी ने कांग्रेस के विरुद्ध लिखी थीं. ठाठके साथ सुनायीं.

मीटिंग का समय हो रहा था. बिहारी लाल जी ने कहा कि भोजन करके उधर ही चला जाये. हम घर के अंदर गये. दरवाजे से घुसते ही दहलीज पर एक जगह पुआल का ढेर पड़ा

द्विवेदीजी का पत्र अ. ला. नागर के नाम

चकल्लस का आठवां अंक देखकर मेरा मुर्दा दिल भी जिंदा-सा हो उठा. इस अंक में हास्यरस प्रधान कितने ही लेख बड़े और मार्के के हैं. कविताएं भी उसी रस में सराबोर हैं. राजनीति और साहित्य भी उसके रसिया बना डाले गये हैं. ऐसे चित्र भी अनेक हैं, जो विनोद-वाटिका के खूब दर्शन कराते हैं.

19-3-38 — महावीर प्रसाद द्विवेदी

(अ. ला. नागर द्वारा संपादित 'चकल्लस' पत्रिका के संदर्भ में)]

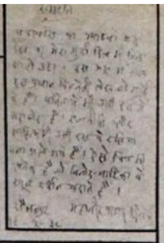

था. बिहारीलाल जी बोले, "काका यहैं बैठि कै लिखत रहे, तकिया छाती तले दबाय लें, और पौढ़े भर लिखा करें."

घर के आंगन की कच्ची चहारदीवारी कई जगह से टूट चुकी थी. बड़ा खस्ता हाल था. पिछवाड़े की तरफ चतुरी चमार के घर की दीवाल पड़ रही थी. निराला का घर-गांव सब कुछ जीर्ण-शीर्ण अवस्था में था. इस अति पिछड़े हुए गांव में कीचड़ कांदो और टूटे घरों की बस्ती देख-देखकर मेरा मन अजीब खिसियान से भरता जा रहा था.

भोजन के बाद जुलूस निकला. लोहे की कुर्सी पर चादर डांककर उस पर निरालाजी का चित्र रखकर उन्हीं के वंश का एक युवक उस सिंहासन को अपने सिर पर उठाये हुए आगे-आगे चला. पीछे गांववालों का हुजूम. घंटा शंख-घड़ियाल की ध्वनि और उसके पीछे चिमटा-झांझ-करताल-मंजीरे बजाते और गाते हुए हुए चतुरी के भाई-बिरादरों की भगत-मंडली. बीच-बीच में —'बोल दे निराला बाबा की जय' के नारे.

सन 38 में निरालाजी यहां से दुखी होकर गये और फिर कभी न आये. ऊंची जाति के लोगों में दंभ और अशिक्षा का बोलबाला था. गरीब जनता बड़ों की लाठी से बुरी तरह त्रस्त थी. जुलूस में साथ-साथ चलने वाले धमनी खेड़ा के श्री दुर्गाप्रसाद मिश्र और काशीप्रसाद मिश्र दो भाई भी थे. रिश्ते में निराला जी उनके मामा होते थे. काशीप्रसादजी कहने लगे, "सन अट्ठावन में हम लोग वसंत पंचमी के दिन निरालाजी से मिलने के लिए इलाहाबाद गये. उन्होंने बड़ी उत्सुकता से यहां का एक-एक हाल पूछा. मैंने कहा कि एक बार फिर गांव चलिए. सुनकर मामा उदास हो गये. कहने लगे कि क्या जाएं, वहां बड़ी अशिक्षा है. मैंने कहा कि अब गढ़ाकोला और बैसवारा बहुत बदल गया है. वहां गांव-गांव में स्कूल पाठशालें खुल गये हैं. जमींदारी भी खत्म हो गयी है. किसान अब अपने खेतों के मालिक हो गये हैं.

"उसके बाद हम गढ़ाकोला आये. यहां से उनके लिए आम, अमावट, खटाई सब ले गये. निरालाजी को अपने बगीचे के आम बहुत पसंद थे. मैंने एक आम उनकी ओर बढ़ाते हुए कहा, "भदैला को आम आय."

"महाकवि देखकर बोले, "नाहीं, यो म्याड़ पर वाले को आय." उन्हें अपने बगीचे के एक-एक पेड़ के आम की पहचान थी. अंतिम बार उन्होंने अपने गांव के आम खाये और फिर आम, अमावट और खटाई आदि लेकर अपने पुत्र रामकृष्ण के घर गये."

कच्ची सड़क से जुलूस आगे बढ़ रहा था. अगल-बगल सरसों फूली हुई थी. क्षेत्र के ब्लाक डैवलपमेंट अफसर मेरे पास आये. कहने लगे, "ये सड़क जिसपर कि आप चल रहे हैं, इसका नाम निराला मार्ग है. गांव वाले इसे श्रमदान से तैयार कर रहे हैं. छह मील की यह सड़क पुरवा में जाकर मिलेगी. फिर वहां से उन्नाव तक यही निराला मार्ग बना दिया जायेगा."

उनकी बात पूरी भी न हो पायी थी कि पंडित बिहारीलाल जी लपकते हुए हमारे पास आये और बायीं ओर का एक खेत दिखाते हुए बोले, "यह खेत रामसहाय बाबा ने निराला-काका के नाम से लिया था. कागज पर सूर्ज कुमार नाम चढ़ा है."

जुलूस और आगे बढ़ा. निराला बाबा की जय के नारे और शंख-घंटा-घड़ियालों का नाद इस समय अपने पूरे जोर पर था. किनारे पर पड़ी एक मड़ैया के आगे खड़ा हुआ एक वृद्ध बार-बार अपनी आंखें पोंछने लगा. गढ़ाकोला के एक सज्जन ने बतलाया कि यह पासी निरालाजी के पास बहुत आया-जाया करता था. इस पर हठात् मेरे मन में बात आयी. छोटी कौम कहलाने वाले दबे-पिसे लोग ही निरालाजी के नाम पर रोनेवालों में यहां अधिक हैं. मैंने छेड़ते हुए पूछा, "यहां के ऊंची जात वालों में कितने लोग निरालाजी के भक्त हैं?"

"अरे बहुत कम, ई पंचैं तौ महाकवी का यादौ नहीं कर्तु हैं."

मैं सोचने लगा कि वे लोग भला निराला को क्यों याद रखें. निरालाजी ने उनकी जातिगत उच्चता को कभी स्वीकार नहीं

किया. उनके झूठे धर्म को सदा लातों से ठुकराया. गरीब-मजलूमों की आवाज सुनी. उनके लिए ताकतवरों से जूझे. उनके सुख-दुख में शामिल हुए. यही वजह है जो यह इतनी बड़ी भगत-मंडली इस जुलूस में ऊंची जात वालों की संख्या को मात देती हुई आगे बढ़ रही है. मुझे बड़ा अच्छा लग रहा था. शिव अपने भूतगणों के साथ ही शोभित होते हैं.

निराला बाग आ गया. यह उनके पुरखों का बाग है. कुनबेवालों ने अब उसे निराला बाग कहना आरंभ कर दिया है. सघन अमराई के पास ही एक शामियाना तना हुआ था. उसके आगे लइया, मुरमुरे, रामदाने के लड्डू आदि लिये खोंचेवाले बैठे थे. एक पान-बीड़ीवाला और एक मिट्टी के खिलौनेवाला भी नजर आ रहा था. यहां एक नये मेले की परंपरा स्थापित हो रही थी. यहां निराला जयंती की सभा जुड़ी. भगत-मंडली पीछे-पीछे आ पहुंची. ये लोग शामियाने के बाहर पर बैठ गये. मुझे लगा कि यह तो निराला की जीवन-भर की लड़ाई मेरी आंखों के आगे ही एक दयनीय पराजय के रूप में परिणत हुई जा रही है. एक मिनट तक मन ही मन संघर्ष चला कि कहूं या न कहूं, पर फिर चुप न बैठ सका. मैंने कहा, "इन्हें आदरपूर्वक दरी पर बिठलाइए."

"हां-हां, अभी प्रबंध होता है, पर आप देखेंगे कि ये लोग बैठेंगे नहीं, इनके मन में अब भी वे पुराने संस्कार ही जड़ें जमाये हुए हैं."

दरी बिछी. बड़े आग्रह के साथ भगत-मंडली को उस पर बैठने के लिए कहा गया और बड़े ही संकोच के साथ वे लोग बैठे, लेकिन बैठे शामियाने के बाहर ही. लगभग तीस-पैंतीस भगत थे, बच्चे, बूढ़े, जवान सभी मेल के. सिर्फ धोतियां ही नहीं, बल्कि एक-आध पतलून, ढीली मोहरी के पजामे भी नजर आ रहे थे. ढोलकिये के सिर पर रूमाल बंधा हुआ था. मजीरेदार चिमटे, झांझ, करताल और ढोलक का आरकेस्ट्रा जन्नाटे के साथ गूंज उठा.

स्वर्गीय चतुरी के जोड़ीदार पंचम भगत इस भगत मंडली के लीडर थे. सिर पर गांधी टोपी, कंधे पर अंगोछा, ऊंचे स्वर में हाथ बढ़ाकर पंचम भगत ने कबीर का भजन गाना आरंभ किया —**"वहु घर हमका कोउ न बतलावा, जेहि घर ते जिया आवा हो."** तीस-पैंतीस कंठों से गाने की पंक्ति दोहरायी जाने लगी. एक अधेड़ उम्र का भगत उठकर नाचने लगा. बड़ा समा बंधा.

भाषण पर भाषण होते रहे. माइक्रोफोन था नहीं और आजकल आमतौर पर हमारे पढ़े-लिखे लोगों के पास वह आवाज नहीं रह गयी, जो दस-बीस हजार की कौन कहे, हजार-पांच सौ आदमियों को भी सुनाई पड़ सके. जनता धीरे-धीरे बढ़ती जा रही थी. जवान लड़कियां, औरतें, बच्चे, पुरुष क्रमशः बढ़ते जा रहे थे. होनेवाले तमाशे यानी कि भाषणबाजी के प्रति उनमें सहज आकर्षण था, लेकिन बातें कुछ तो सुनाई नहीं पड़ती थी, और कुछ समझ में नहीं आती थीं. इसलिए बढ़ती भीड़ में शोरगुल भी क्रमशः बढ़ता ही जाता था.

मुझे लगा कि इस मेले को एक सुनियोजित रूप देना चाहिए—कसरत-कुश्ती का दंगल, औरतों की बनायी हुई गृहशिल्प की वस्तुओं का प्रदर्शन, क्षेत्रीय कवियों का सम्मेलन, खेल-कूद और वाद-विवाद प्रतियोगिताएं —यहां प्रतिवर्ष हुआ करें तो बहुत अच्छा हो. □

चलते-चलते

हाईस्कूल पास पं. अमृतलाल नागर को जिंदगी के विश्वविद्यालय से सब डिगरियां मिल चुकी हैं. किगलियर की तरह परिस्थितियों ने मरम्मत करके उनका नख-शिख दुरुस्त कर दिया है. अब न एक आंच की कसर है, न दो की; वे खूब तप चुके हैं और हिंदी की सेवा करने के लिए पूर्ण योग्यता प्राप्त है. □

(डॉ. राम विलास शर्मा के संस्मरण से)

आगरा के जिस मुहल्ले का मैं निवासी हूं, उसका नाम है—गोकुलपुरा. इस मुहल्ले की तमाम खासियतों में एक है—उसमें रहनेवाला शायद हर तीसरा आदमी 'नागर' है, अर्थात गुजराती ब्राह्मण, अर्थात पुराने वक्तों में सबके आदर और श्रद्धा का पात्र, इस हद तक 'एक्सक्लूसिव' कि एक पुरानी कहावत के अनुसार —'न किसी ने नागरों का दूल्हा देखा, न मुर्दा!' इनके ब्याह-शादी होती थी तो न किसी अन्य जात-बिरादरी वाले को बुलाने का सवाल था और न ही मातम-गमी में कोई दूसरा व्यक्ति शिरकत कर सकता था. बड़ी ही क्लोज्ड कम्यूनिटी थी

●12 सितंबर, 1970 : कलकत्ता→ ठलुआ क्लब द्वारा नागरजी का सम्मान. नागरजी को श्री सीताराम सेक्सरिया प्रतीक भेंट करते हुए —श्री विष्णुकांत शास्त्री

रहा हो. नागरजी ने ठेठ आगरा की भाषा में अपनी रूस यात्रा के जो संस्मरण सुनाये तो हम लोग 'लहालोट' हो गये.

डाक्टर साहब ने एक मार्के की बात पूछी, "और भइयो, वहां भांग के बिना गुजारा कैसे किया?" नागरजी ने बड़े भोलेपन और संजीदगी से जवाब दिया, "उसके बिना तो जाने का सवाल ही कहां उठै था, रामबिलास! हमने तो बिसका चूरन बना के एक बोतल में भर लीना, और जब कस्टमवालों ने टोका तो कह दिया—'देसी दबाई है, सबेरे-साम पानी के साथ लेनी पड़ै है.....' सब सालों को जवाब ने तरकंट कर दीना. . . . . . और हम ये ग्ला क वो ग्ला."

तो नागरजी अकेले रह गये. . .लेकिन लेकिन ऐसा है नहीं. वे तब तक अकेले नहीं हो सकते जब तक उनके चारों तरफ पात्रों के समूह मौजूद हैं! —नागरजी के एक परममित्र के अंतरंग एवं भावभीने संस्मरण. . .

पर्वत सब कुछ समझता है पर शिकायत नहीं करता

●घनश्याम अस्थाना

एक प्रकार से. धर्मप्राण इस सीमा तक हुआ करते थे कि सुबह उठकर स्नानादि से निवृत होकर जब मंदिर में जल चढ़ाने जाते थे तो किसी मेहतर आदि पर नजर पड़ते ही दुबारा घर लौट आते थे और पुन : नहाते थे. प्याज-लहसुन की तो बात दूर, टमाटर जैसी सब्जी तक से इसलिए एतराज था कि वह देखने में 'गोश्त' की तरह लाल होता है. बीड़ी-सिगरेट का तो कोई सवाल ही नहीं उठता था. तो ऐसे थे 'पुराने टैम' के आगरा के नागर लोग.

अमृतलाल नागर उन शुरू के क्रांतिकारियों में रहे हैं, जिन्होंने अपनी करतूतों से इस बिरादरी की पुरानी परिपाटियों को, उनके तौर-तरीकों को गहरा झटका दिया था. नागरजी ने दिन-दहाड़े अपने वो सभी 'सौक' पूरे किये जो कि उस जमाने में कोई नागर-कुल-कलंक ही कर सकता था, और उनकी बिरादरी में तो जात-बाहर का भी विधान रहा है. पता नहीं, नागरजी कैसे बच गये.

इस बात का पूरा अंदाजा होने पर भी कि नागरजी सौ फीसदी लखनौआ हैं और शामे-अवध पर दिलोजान से निसार हैं, आगरावालों के लिए शायद इससे बड़ी गाली नहीं हो सकती कि 'नागरजी आगरा के नहीं हैं.' अगर आपको विश्वास न हो तो गोकुलपुरा के किसी बुजुर्ग ठठेरे से, अहीर से, प्रो. शाहनसीर फरीदी से, या खुद पंडित राजनाथ शर्मा से पूछ लीजिए, जो नागरजी के शब्दों में हैं—(ना) राजनाथ. 'पंडज्जी' वो-वो वजनदार सुनाने लगेंगे कि अच्छे-अच्छों को हथियार डालकर भाग जाना पड़े.

नागरजी के लिए आगरावालों का इतना प्यार बेवजह नहीं है. आगरा-मथुरा के साथ उनका रिश्ता काफी पुराना काफी मजबूत धागों में पिरोया हुआ है. उन्होंने अपने कहानी-उपन्यासों में आगरा के गोकुलपुरा, राजामंडी में बोली जाने वाली बोली-बानी को अमर बनाया है. उससे कौन यह विश्वास करेगा कि पद्मभूषण पंडित अमृतलाल ठेठ लखनऊ के 'तस्लीम' लखनवी पहले हैं, सेठ बांकेमल की भाषा में आगरा के 'इमरत लाल नागर' बाद को. खैर, जो भी हो, नागर जी आखिरकार नागरजी हैं.

सन्' 62 की बात है. रूस से लौटकर नागर जी आगरा आये. राजनाथ शर्मा, नागरजी और मैं रेल की लाइन पार करके डाक्टर रामबिलास से मुलाकात करने गये. दोनों पुराने यार ऐसे मगन जैसे भरत-मिलाप हो

बात काफी पुरानी है.

गोकुलपुरा में चौराहे से घटिया की तरफ जानेवाली संकरी सड़क पर शिवजी का एक मंदिर है—हाटकेश्वरनाथ महादेव. बाहर की तरफ सड़क की ओर तीन दरों के मंदिर के आगे संगमर्मर की छजली है. मंदिर की इसी छजली पर, मैं देखा करता था कि अक्सर सुबह-शाम एक सज्जन बैठा करते थे. सिर पर आड़ी-तिरछी दुपल्ली-टोपी के नीचे से बाहर को झांकती हुई पतली-सी चुटिया, दुबले-पतले शरीर पर मलमल का कुर्ता और बारीक धोती, पैरों में कभी सलीम शाही तो कभी रबड़ के पंप-शू और हाथ में छड़ी.

मेरा अपना मकान हाटकेश्वर मंदिर के पास ही चौराहे की तरफ है, और नागरजी की ससुरालवाला मकान मंदिर से एक मकान छोड़कर घटिया की तरफ जानेवाली गली के कोने पर. एक बार नागरजी 'मूड' में आकर तमाम पुराने फोटो दिखा रहे थे—देखो, ये किशोरावस्था में मैं हूं, सिर पर कामदार टोपी लगाये हुए, ये शादी के आसपास तुम्हारी भाभी, ये देखो ये छोटे-छोटे बच्चन, श... और अचला! . . . . . और इसी क्रम में, ... जतन से सहेजा हुआ एक फोटो निकाला.

अमृतलाल नागर : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

जन्म: दो शताब्दी पूर्व गुजरात से इलाहाबाद आकर बसे ब्राह्मण परिवार में, 17 अगस्त, 1916 के दिन, गोकुलपुरा, आगरा में.

जीविकोपार्जन: पिता की मृत्यु के बाद सन् 1935 में एक बीमा कंपनी में 18 दिन तक डिस्पैच क्लर्क की नौकरी, फिर '40 से '47 तक फिल्मों से संबद्ध रहने के बाद '53 से '56 तक आकाशवाणी लखनऊ में ड्रामा प्रोड्यूसर के पद पर कार्य और उसके बाद आकाशवृत्ति.

कृतित्व: सन् 1929 में साइमन कमीशन के बहिष्कार स्वरूप उपजी एक तुकबंदी (कविता) के रूप में साहित्य यात्रा का श्रीगणेश—तदोपरांत वाटिका (1935), अवशेष (1937), नवाबी मसनद (1939), तुलाराम शास्त्री (1941), सेठ बांकेमल (1944), आदमी, नहीं! नहीं! (1947), पांचवा दस्ता (1948), एक दिल हजार दास्तां (1955), एटम बम (1956), पीपल की परी (1963), कालदंड की चोरी (1963),...सात कहानियां (1970) भारतपुत्र नौरंगी लाल (1972), कहानियों/रेखाचित्र संग्रहों का प्रकाशन.

महाकाल (1946), बूंद और समुद्र (1956), शतरंज के मोहरे (1959), सुहाग के नूपुर (1960), अमृत और विष (1966), सात घूंघटवाला मुखड़ा (1968), एकदा नैमिषारण्ये (1968), मानस का हंस (1971), नाच्यौ बहुत गोपाल (1978), खंजन नयन (1981), बिखरे तिनके (1982), अग्निगर्भा (1984) और करवट (1985) शीर्षक उपन्यासों का सृजन. गदर के फूल (1957), ये कोठेवालियां (1960), जिनके साथ जिया (1973) शीर्षक रिपोर्ताज एवं साक्षात्कारों के संकलन.

परित्याग (1954), युगावतार (1956), नुक्कड़ पर (1963) शीर्षक नाटकों का प्रकाशन और 1951 से 1965 के बीच लिखे पच्चीस रेडियो नाटकों—एवं प्रहसनों का प्रसारण, बात की बात (1974), चंदनवन (1976), चक्करदार सीढ़ियां और अंधेरा (1977), उतार-चढ़ाव (1980), चढ़त न दूजो रंग (1981) शीर्षक रेडियो-टी.वी. नाटकों का पुस्तक रूप में प्रकाशन. बालोपयोगी दर्जन-भर पुस्तकों का लेखन और सन् 1941 से ही इनका निरंतर प्रकाशन.

सन् '40 से '47 तक फिल्म क्षेत्र से जुड़े रहकर कई फिल्मों की पटकथा-संवाद लेखन. नागरजी की कई रचनाएं भारत की सभी भाषाओं के अतिरिक्त रूसी भाषा में भी अनूदित हो चुकी हैं. साहित्य अकादमी, सोवियत लैंड नेहरू पुरस्कार, बटुक प्रसाद पुरस्कार, प्रेमचंद पुरस्कार, वीरसिंह देव पुरस्कार और अन्यान्य कई पुरस्कारों के साथ-साथ विद्या वारिधि, सुधाकर पदक और पद्मभूषण से अलंकृत और सोवियत रूस एवं मारीशस की यात्रा. □

मैंने बार-बार गौर से फोटो देखी और कुछ-कुछ पहचान की मुद्रा में चौंका. उसी समय नागरजी की मीठी, पहेली बुझाती आवाज कान में पड़ी, "जानते हो, ये कौन हैं ?" और इसके पहले कि मैं अपनी पहेली खुद ही हल करने की कोशिश करूं, उन्होंने अपने आप जवाब दे दिया, "ये हैं अपने बांकेलालजी. 'सेठ बांकेमल' के नायक."

मैं आसमान से गिरा—अरे, अब समझ में आया. ये तो वही सज्जन हैं जिन्हें अक्सर मैं हाटकेश्वर की छजली पर सुबह-शाम बैठे देखा करता हूं. उसके बाद जब भी उनको देखता तो अजीब-सी अनुभूति मन में होती—वह मेरे लिए, सारे अपरिचय के बावजूद, अब एक खास आदमी बन गये थे, जिनका सजीव चित्रण एक अमर कथाकार ने शायद हिंदी के प्रथम आंचलिक उपन्यास में किया है. पता नहीं, मुझे 'सेठ बांकेमल' हास्य रस की कृति कभी नहीं मालूम हुआ. 'सेठ बांकेमल' के माध्यम से नागरजी ने एक खास युग में से गुजर रहे पश्चिमी उत्तर प्रदेश के एक अंचल विशेष को उसके सारे सांस्कृतिक उत्थान-पतन के ताने-बाने में बुनकर प्रस्तुत किया है, और उस जमाने में प्रस्तुत किया है जबकि हमारे आज के अनेक वरिष्ठ आंचलिक उपन्यासकार अपनी कलम की नोंक ही सजा-संवार रहे थे.

मैं नागरजी को बहुत पहले से जानता था, खासकर तब से जब बंगला के अमर कथा शिल्पी शरच्चंद्र चट्टोपाध्याय पर नागरजी का संस्मरण माधुरी में छपा था. जिसमें उस महान कथाकार ने नागरजी को आशीष ही नहीं दिये, अंग्रेजी, बंगला और हिंदी लिपियों में अपने हस्ताक्षर और बार-बार अमृतलाल नागर अपनी हस्तलिपि में लिखा है.

नागरजी जब कभी आगरा आते तो अपनी ससुरालवाले मकान में ठहरते थे, मगर रोज नियम से मेरे घर के सामने से होकर चौराहे पर 'रामकिशन काकाजी' के मकान पर जरूर जाते थे—यह नागरजी की ननसाल थी और यहीं उनका जन्म भी हुआ था. सफेद बुर्राक खद्दर का कुर्ता-पाजामा, और निहायत ही सुंदर पांवों में सूफियानी-सी चप्पलें पहने नागरजी का वह डेढ़ सौ कदम पार करना अपने-आप-में एक निराली तस्वीर खिंच जाती थी. उनके हाथों की उंगलियां इतनी पतली, लंबी और तराशी हुई हैं कि कोई एक नजर में भांप जाये कि यह व्यक्ति निश्चित रूप से कलाकार होगा.

एक बार एक फिल्म देखने गया—'वीर कुनाल.' निर्माता निर्देशक श्री किशोर साहू. नागरजी उन दिनों आगरा में ही थे. मुझसे बोले, "अच्छा, मुझे पहचानना उसमें." मुझे यह तो ज्ञात था कि किशोर साहू की एक अन्य फिल्म 'कुंआरा बाप' में नागरजी ने छोटा-सा रोल किया था, मगर 'वीर कुनाल' के बारे में मुझे पता नहीं था. मैंने गौर से फिल्म देखी, कई पात्रों पर अपना ध्यान टिकाया. मगर कोई नतीजा नहीं निकला. आखिरकार अंदाज करके दो-तीन पात्रों पर नजर केंद्रित करके, बाकी फैसला लौटने पर नागरजी पर ही छोड़ दिया. वापस लौटकर नागरजी से मिला, बोले, "देख आये फिल्म ? बताओ, पहचाना मुझे ?" मेरे मन में कई पात्रों के बारे में बताने की इच्छा थी. मैंने अचकचाते हुए कहा, "पहले तो मुझे उस कापालिक पर शक हुआ जो बिल्कुल आपकी ही तर्ज में उंगली-नचाता हुआ कहता है—'महारानी, राजरानी तिष्यरक्षितेऽऽऽ..' मैं बात पूरी भी नहीं कर पाया था कि नागरजी बोल पड़े, "खूब पहचाना तुमने." 'और मैंने अपना तुक्का सही लग जाने के लिए अपनी पीठ ठोंक ली.

नागरजी को अपने पूरे मूड में देखने के लिए जरूरी यह है कि उनके किसी 'फेवरिट' विषय पर चर्चा छेड़ दी जाये—कोई जरूरी नहीं है कि वे उस विषय के पक्ष में ही हों. वे जिस अपनेपन से, जिस तेवर से, जिस उग्रता अथवा व्यग्रता से चर्चा में अपनी बात रखेंगे, उसका सरोकार सिर्फ उन्हें देखने या सुनने से है, उसके बारे में लिखने या पढ़ने से नहीं. . . उनका चेहरा तमतमा जायेगा, मोटे चश्मे के पीछे से झांकती हुई संवेदनशील आंखें यथा अवसर अपना रूप बदलती चलेंगी, नागरजी के सुंदर, कोमल दोनों हाथ यकायक सक्रिय हो जायेंगे. बायें हाथ से ड्राइंगरूम में रखा हुआ कोई तकिया, या मसनद या मूढ़ा अपनी गोद में समेटकर दायें हाथ की लंबी-लंबी उंगलियां उनके तर्क समर्थन में दायें-बायें आगे-पीछे घूमने-लगेंगी. मुझे याद है ऐसी कई शामें जब नागर जी और डाक्टर रामबिलास मेरे मकान पर बैठे हुए इस प्रकार से परिसंवाद का रस वातावरण में बार-बार घोल जाते थे. डाक्टर शर्मा, नागरजी से कोई चर्चा शुरू कर देते थे और फिर नागरजी का रौद्र, करुण अथवा हास्य-प्रधान रूप उनके निहायत ही 'मोबाइल' चेहरे पर अठखेलियां करने लगता था. अनेक बार मैंने उन्हें पंतजी, निरालाजी, शुभ-लक्ष्मीजी, नरेंद्रजी, महेशजी (महेश कौल) की विस्तृत चर्चा करते और उनके प्यार भरे संस्मरण सुनाते देखा-सुना है. एक बार मेरी जिज्ञासा

और कौतूहल सीमाएं तोड़ गये. तब नागरजी और डाक्टर शर्मा के बीच विषय थे 'इंचजोजी.' मैं बहुत देर तक उधेड़बुन में पड़ा रहा था कि ये इंचजोजी क्या बला है. बड़ी देर बाद अपने पान से रंगे दांतों को एक अट्टहास के रूप में अनावृत करते हुए नागरजी ने पहेली का हल बताया, "अरे, वही अपने इलाचंद्र जोशीजी."

नागरजी का अगर उग्र या रौद्र रूप देखना हो तो भारत में भाषा विवाद की बात छेड़ दें या देश की वर्तमान स्थिति की बात. वह तर्कसंगत किंतु क्रोधपूर्ण उक्तियां उन प्रगतिशीलों के लिए सुनने को मिलेंगी जो आपसे तो अपेक्षा दुनियाभर की प्रगतिशीलता और उदारता की करेंगे, मगर खुद एक सांस में मार्क्स, लेनिन और दूसरी सांस में शरियत के आधार पर उर्दू की सांप्रदायिकता पूर्ण वकालत करने से बाज नहीं आयेंगे, भले ही उन प्रगतिशीलों में सज्जाद जहीर हों, अलीसरदार जाफरी हों या ख्वाजा अहमद अब्बास हों. इसी तरह से अगर आप उनका गुस्सा देखना चाहें तो देश की एकता अखंडता की बातें छेड़ दीजिए. . . . हजरत 'जलाने' को चुन-चुनकर वह खिल्लाही सुनायेंगे कि सुननेवाला अपने को और अधिक मूढ़-मति समझने लगे कि आखिर ये हजरत 'जलाने' कौन है जिनकी देश की व्यवस्था में इतनी अधिक और इतनी सक्रिय भूमिका है. तब एक हंसी की पिचकारी में आपको भिगोते हुए नागरजी बतायेंगे. . . . . . "और कौन, वही हजरत पंडित जवाहरलाल नेहरू." बात यह है कि नागरजी नेहरूजी के घोर प्रशंसक और उससे भी ज्यादा उनको प्यार करनेवाले रहे हैं, उन्हें यह बर्दाश्त बिल्कुल नहीं कि उनके महबूब पंडित जवाहरलाल नेहरू कोई गलत काम (नागरजी की नजर में) करें या कोई गलत कदम उठायें.

नहीं भूलती वह दोपहर. मेरे मकान की बैठक. डाक्टर रामविलास शर्मा, स्वर्गीय भाई बिशन कपूर (प्रसिद्ध पत्रकार) और मैं सोफों पर बैठे थे और नागरजी नीचे जाजम पर. उनके दोनों हाथों से एक शांतिनिकेतनी मूढ़ा घिरा हुआ उनकी गोद में भिंचा था. उस दिन नागरजी 'ये कोठेवालियां' की एक प्रमुख पात्र बड़ेमुनीर के किस्से सुना रहे थे. यकायक बड़ेमुनीर की मृत्यु की व्यथा का वर्णन करते हुए उनका जो रूप देखा, वह आज भी मन प्राण पर ज्यों का त्यों लिखा हुआ है. मैंने कई बार 'ये कोठेवालियां' पढ़ा है, बड़ेमुनीर नामक सुंदर वेश्या के अंतिम समय के कुत्सित रूप का रोंगटे खड़े कर देनेवाला दृश्य अब भी आंखों के सामने सजीव हो उठता है.

तीन जन्मों-सी तीसरी मुलाकात!

मोरिशस में दो सबसे प्रिय भारतीय लेखक प्रेमचंद और शरत के बाद नागरजी ही ऐसे कथाकार रहे हैं जिनके पाठकों की संख्या शुरू से अभी तक बरकरार चली आ रही है.

अमृतलाल नागर जी से मिलने और उन्हें जानने के मुझे तीन अवसर मिले हैं.

द्वितीय विश्व हिंदी सम्मेलन में पहुंचे डा. भारती, कमलेश्वर, अमृता प्रीतम, विष्णु प्रभाकर, उपेंद्रनाथ अश्क, और भी कई लोग अलग-अलग कारों से मारिशस की प्राकृतिक सुषमाओं को निरखने निकले हुए थे. नागरजी, राजेंद्र यादव, नंदन और अधिकारीजी मेरी कार में थे. यात्रा कार्यक्रम के अनुसार भारतीय प्रतिनिधि मंडल का मोरिशस के प्रधानमंत्री के साथ भोजन का आयोजन था. इसलिए तय हुआ कि सरकारी गाड़ी के साथ हम दोनों भी अपनी कार सिधे सीधे पोर्ट-लुई पहुंचें जहां भोज का यह आयोजन था. तभी नागरजी ने खुमारी और प्यार से लबालब स्वर में कहा, "देखो भाई, जिनको प्रधानमंत्री के यहां भोजन पर जाना है वे जायें, मैं तो आज का भोजन अभिमन्यु के साथ उसके घर करूंगा. आप सभी प्रधानमंत्री का भोजन खायें, मैं लेखक का भोजन खाऊंगा."

फिर तो मेरे साथ के सभी लेखकों को मेरे घर पहुंचने की विवशता-सी हो गयी. मेरे लिए यह बहुत बड़े सम्मान का क्षण था. आधे घंटे बाद घर पर जो भी रूखा-सूखा तैयार हो पाया, उससे नागरजी को प्रसन्न पाकर मैं उनके भीतर की महानता को समझ पाया.

उन्होंने मुझे नहीं बल्कि साहित्य को राजनीति से अधिक महत्त्व दिया. यह मेरे लिए मात्र एक संस्मरण बनकर नहीं रहा बल्कि एक उपलब्धि और स्वाभिमान भी है. प्रोटोकोल और राजकीय आतिथ्य के शिष्टाचार को भंग करके नागरजी ने मुझे जो इज्जत बख्शी और महत्त्व दिया उससे मेरे साहित्य को जो विद्रोही ताकत मिली शायद उसी का यह भी एक परिणाम रहा हो कि मैं अपने चारों ओर के राजनीतिक चक्रव्यूह में अभी भी लड़ता हुआ जीवित हूं. हो सकता है यह मेरी शक्ति से कहीं अधिक मेरी एक विवशता भी हो. नागरजी के विश्वास को खंडित न कर पाने की विवशता.

दूसरी बार दिल्ली में उनकी पुस्तक 'खंजन-नयन' के विमोचन के अवसर पर मैंने उन्हें देखा और. . . तीसरी बार जब नागरजी से लखनऊ में मिला था तो वह रिश्ता तीन मुलाकातों का नहीं बल्कि तीन जन्मों का-सा था. चौक की एक संकरी गली और स्वछंद घूमती गायों के बीच से होते हुए जब मैं रोकी के साथ किसी जमाने की उस नवाबी इमारत के भीतर पहुंचा तो अमृतलाल नागरजी पहले ही से लखनऊ की बेहतरीन मिठाइयों के साथ हमारी प्रतीक्षा कर रहे थे.

पुस्तकों और पुरानी मूर्तियों से खचाखच भरे उस कमरे में बाबूजी हमें इस तरह खिलाते रहे गोया हम दोनों छोटे बच्चे थे. यही नहीं, हमें खाते देख उनकी खुमारी भरी आंखों में जो आत्मीयता और आनंद के भाव थे, वे छलक आये थे. □

अभिमन्यु अनत

नागरजी वास्तव में हृदय ही हृदय हैं. अवचेतन रूप से बौद्धिकता से दूर। हर मामले में उनकी भावना ही प्रधान रहती है, और यही कारण है कि जहां उनके उपन्यासों के प्रमुख पात्रों के दार्शनिक चिंतन उबाऊ और खीज भरे होते हैं, वहीं देश की विभिन्न बोली-बानियों के माध्यम से उन पात्रों को वे सहज ही जीवंतता प्रदान कर देते हैं, जो उनकी खुद की नजर में उनके 'माइनर कैरेक्टर्स' हैं, जैसे 'बूंद और समुद्र' में ताई का चरित्र या 'अमृत और विष' में पुत्ती गुरु. शायद यही नागरजी की कमी है कि वे अपनी क्षमताओं को जानबूझकर दबाते हुए सिर्फ उन चरित्रों पर जोर देते हैं जिनसे प्रकट रूप में मालूम हो कि विशाल दृश्य पटल के लायक ही यह चरित्र हैं, मगर वास्तविक रूप से वे चरित्र काफी 'फ्लैट' और बेजान होते हैं.

तो आज नागरजी अकेले रह गये.

उनके मझले भाई रतन गये! पिछले साल अक्तूबर 27 को उनके सबसे छोटे और बड़े लाडले भाई चित्रकार मदनलाल नागर भी नहीं रहे. और अब, कुछ ही महीने हुए उनकी जीवन संगिनी 'बा' (श्रीमती प्रतिभा नागर) ने भी चिरविदा लेकर आंखें मूंद लीं. नागरजी के अनन्य मित्र भगवती बाबू (श्री भगवती चरण वर्मा) और यशपाल पहले ही जा चुके हैं. अब लखनऊ का हजरतगंज, कॉफी हाउस, 'बैनवों' वीरान हो गये.

इधर उनके दोनों बेटों कुमुद नागर और डाक्टर शरद नागर ने अपनी-अपनी व्यावसायिक और पारिवारिक जिम्मेदारियां संभाल ली हैं. तो नागरजी अकेले रह गये.

लेकिन ऐसा है नहीं. नागरजी अकेले नहीं हैं, वे तब तक अकेले नहीं हो सकते जब तक उनके चारों तरफ पात्रों के समूह मौजूद हैं. . . .

और फिर रवींद्रनाथ ठाकुर की वे पंक्तियां जिसमें उन्होंने पर्वत और नदी की तुलना करते हुए कहा है कि पर्वत से नदी निकलती है, जिसका काम है पर्वत से दूर जाना, और पर्वत सब कुछ देखता रहता है, समझता जाता है, पर शिकायत नहीं करता. □

शहर का अंदेशा

भाई साहब, हाथ कंगन को आरसी क्या, इस समय लखनऊ नगर में गली दर गली, घरों में, घरवालियों में, हलवाई, तंबोली, पंसारियों और सब्जीवालों, नौकर-चाकर, धोबी, जमादार-जमादारिन, लाला ललाइनों में गर्ज कि घर-घाट, हाट-बाट में बेशुमार चलते-फिरते गजट देखने को मिल जायेंगे. आज पांच रोज से अफवाह गर्म है कि कलकत्ते बंगाल की तरफ से चार बड़े लंब-तड़ंग जवान आये हैं. वे रात में घरों के द्वार खटखटाते हैं, 'तार ले जाइए' की आवाज लगाते हैं और जो जाकर दरवाजा खोलता है उसे उन लंबू जादूगरों में से कोई एक तमाचा जड़ देता है. आदमी चटपट मर जाता है. ये लंबे बंगाली जादूगर किसी को लूटते नहीं, बस तमाचा मारकर जान लेते हैं.

इस अफवाह ने चलते-फिरते गजटों को आजकल स्पुतनिक बना रक्खा है. क्या औरतें, क्या मर्द, सुबह से शाम तक जहां तक जाते हैं, यही अफवाह फैलाते हैं.

आज दो रोज हुए; जरदन अंधेरे ही बुढ़ऊ लंबरदार हमारे पैर दबाने आते हैं. उनके पैर मींजने पर हम कुनमुनाए, लंबरदार ने राम-राम की, हमारी नींद टूटी, लंबरदार बोले, "मालिक, अब तौ दुनिया मां रहब मुश्किल हुइगा है. भला यू कौनो इंसाफ की बात आय कि न जान न पहचान न दुस्मनी न अदावत, कुच्छो नहीं, औ' लै के मनई का भड़ से चांटा जड़ि दिहिन औ' मनई का मारि डालिन."

मैंने सोचा, कोई वारदात हो गयी होगी. ब्योरा पूछा. लंबरदार बोले, "अरे मालिक, एक दुई! . . . हम कहिति हय कि आज दुई रोज मां हियां सौ दुई सौ मनई का मार डालिन. सैकड़न-हजारन का कानपुर मां मारि के अब लखनऊ मां आये हैं."

थोड़ी देर में पत्नी आयीं, पूछा, "अखबार में कोई खबर छपी है?"

मैंने कहा, "कोई क्या, खबरें ही खबरें छपी हैं, उसका नाम ही अखबार है."

मेरी पत्नी चिढ़ उठीं, बोलीं, "तुम बात का जवाब देना ही नहीं जानते. रहने दो, मैं बड़े से पूछ लूंगी."

मैं सोचने लगा कि सुबह लंबरदार ने बेमतलब जिन चांटामार जान लेनेवालों की बात मुझे सुनायी थी वे स्वभाव में मेरी घरवाली या कहूं कि आमतौर पर हर किसी की अधेड़ या बूढ़ी घरवाली से जरूरी मिलते-जुलते होंगे. बड़े बेटों-बेटीवालियां, बहुओं, दामादों, नाती-पोतोंवाली सुहागिनें अपने पतियों को बेबात की बात का नाच नचाना आरंभ कर देती हैं.

आप ही न्याय कीजिए कि बिना जाने मैं यह कैसे समझ सकता हूं कि वो कौन-सी खबर सुनना चाहती हैं. मगर उनके यों तुनक के चले जाने पर कौन जबान खोले. यदि रस-शास्त्र की नायिका-भेदी दृष्टि से प्रौढ़ अधीरा कहूं तो उनका मातृ-पद, सास-पद भृकुटियां तान-तानकर देखता है. बड़ी मुसीबत है. बंगाले के चांटामार जानलेवाओं की अफवाह तो आज उड़ी, मैं तो कहता हूं कि हर भाग्यवान घर में सदा से ऐसी चांटेमार जानलेवा, जादूगरनियां रही हैं. और लीजिए, मैं, यह सब सोच ही रहा था कि श्रीमती फिर आ धमकीं, झुंझलाकर कहा, "बड़ा तो बड़ा जानलेवा है. वो अपने नाइट-शो सिनेमा के फेर में खबर को ही झूठी बताता है. मेरी हंसी उड़ाता है. तुम बता दो, खबर छपी है कि नहीं."

उनका चेहरा देखकर मुझे दया आ गयी. फिर भी थोड़ी छेड़खानी

जितना ही लोगों से यह कहा जाये कि लकड़बग्घी नहीं, एक औरत है, उतना ही लोगों का यह विश्वास दृढ़ हो कि लकड़बग्घी है, ये तो पब्लिक में सनसनी न फैले इसलिए खबर छिपा रहे हैं! मैं पगली को देखने गया. जब बाहर निकला तो सबने पूछा, "लकड़बग्घी है न?"...मैंने कहा, "नहीं, औरत है..." ...वे ताव खाकर बोले, "भेस बदल लिया होगा!"—शहरों में प्रायः फैलती रहनेवाली तरह-तरह की अफवाहों के गजटनुमा तेवरों का खुलासा करती चटपटी व्यंग्यरचना...

से बाज न आया. समझ तो गया था कि किस खबर से परेशान हैं. शर्लाक होम्स की बुद्धि से यह भी समझ गया कि अभी महरी बर्तन मांजने आयी है, उसी ने चांटेमार जादूगरों की खबर सुनायी होगी. मगर अनजान बनकर बोला, "भई कौन-सी खबर बतलाऊं...चीन की चिट्ठी पढ़कर सुनाऊं या द्विवेदी स्मारक की खबर...?"

"महरी कहती है कि अखबारों में खबर छप गयी है."

"कौन-सी खबर?"

"तुम हंसी उड़ाओगे! जाने दो."

मेरी पत्नी उठने लगीं. मैंने देखा अपना मजा ही चला, तो चट से आंचल थामकर कहा, "मैं अभी अखबारवालों को टेलीफोन करता हूं कि जिस चांटेमार जादूगर से पब्लिक परेशान है उसे मैंने गिरफ्तार कर रखा है."

"हां-हां, वही कलकत्ते के जादूगर!" मेरी पत्नी का मुख-कमल खिल उठा. बोलीं, "मैं जानती थी, तुम्हें जरूर खबर होगी. महरी कहती थी कि रात में साइकिल से उतरते हैं और किसी का भी मुंह नोंच लेते हैं, बस आदमी मर जाता है."

मैंने गंभीर होकर कहा, "ये तो गंभीर खबर सुनायी तुमने! ...अब तक कितने मरे?"

"ये तो मालूम नहीं हुआ. महरी कहती थी कि कल रात मेडिकल कालेज के सामने ही एक केस हो गया. फौरन अस्पताल में ले गये, डाक्टरों ने कहा, मर गया. उसके चेहरे पर नाखूनों की खरोंच के निशान थे."

मैंने कहा, "अखबार में तो ऐसी कोई खबर नहीं, न हो तो रेडियो की खबरें सुन लेना आज."

"तुम्हें कैसे खबर लगी?" पत्नी ने पूछा.

"लंबरदार ने कहा था, मगर तुम मुंह नोचनेवाले जादूगर को बतलाती हो, वो चांटेमार बखान रहा था. तुम्हारे जादूगर साइकिल पर सवार आते हैं, उसके सात फिटिये जवान हैं जो रात में आकर दरवाजा खटखटाते हैं...तार ले आइए."

"हां-हां! महरी यह भी कहती थी कि तारवाले और डाकिये बनकर भी आते हैं." पत्नी ने समर्थन किया.

मैंने कहा, "एक बात और है, लंबरदार के चांटेमार जादूगर चार हैं और तुम्हारे मुंह-खसोट कितने हैं, इसकी जरा अपनी महरी से पक्की-पोढ़ी खबर लाओ तो सरकारी तौर पर जांच कराऊं."

"अब तुम तो हंसी उड़ाने लगे." मेरी पत्नी ने झेंपकर कहा. फिर सोचती खड़ी रहीं, फिर कहा, "वैसे तो मुझे विश्वास है कि ये कोरी गप्प है. पर बड़ा जो रात को देर से आता है इसी से विश्वास नहीं होता."

मैंने कहा, "देवी, तर्कशास्त्र के इस नये सूत्र के लिए ही तुम्हें डाक्टरेट मिलनी चाहिए."

वे अपनी झेंप मिटाने के लिए मुस्करायीं और अपना बड़प्पन स्थापित करते हुए बोलीं, "तुम्हें याद है, एक बार जब लकड़बग्घों की गप्प उड़ी थी तब किसी बाबाजी की एक पगली को लकड़बग्घी कहकर कैसा शोर मचाया था."

मैंने कहा, "मुझे तो याद है, तुम याद कर लो."

इन चलते-फिरते गजटों ने अक्सर अनर्थ तक कर डाला है. कई वर्ष पहले गोमती तट से पागलों का इलाज करनेवाले एक बाबाजी के आश्रम से रात में एक पगली भाग निकली. गर्मी के दिन थे. वह भटकते-भटकते एक ऐसे गरीबों के मुहल्ले में पहुंच गयी जहां गली में ही खाटें बिछाये अनेक परिवार सो रहे थे. पगली का एक बच्चा कुछ महीनों पहले मर चुका था, किसी स्त्री के पास लेटे हुए छोटे बच्चे को उसने अपना समझकर उठा लिया और कसकर चूमने-दुलारने लगी. बच्चा रोया, मां की आंख खुली, अपने बच्चे को किसी की गोद में देखकर वह चीखी. पगली भागी, जगार हो गयी, लोगों ने पगली से बच्चा छीन लिया, पगली को मारा-पीटा, कोतवाली में सुबह चार बजे लाकर बंद करवा दिया. यह खबर मुंह अंधेरे ही दूर-दूर तक यों फैली कि एक लकड़बग्घी एक बच्चे को ले भागी. उसका कलेजा खा लिया. कोतवाली में पकड़कर आयी है. उसके बड़े-बड़े नाखून हैं इत्यादि. लगभग साढ़े चार बजे तक चौक कोतवाली के फाटक पर लगभग हजार आदमियों का मजमा लग गया. जितना ही लोगों से यह कहा जाये कि लकड़बग्घी नहीं, एक औरत है, उतना ही लोगों का यह विश्वास दृढ़ हो कि लकड़बग्घी है, ये तो पब्लिक में सनसनी न फैले, इसलिए खबर छिपा रहे हैं. मैं पगली को देखने गया, पहचान लिया और थानेवालों से सारी स्थिति भी बयान की. उन्होंने कानूनी स्थिति मुझे समझा दी. मैं जब बाहर निकला तो अनेक आदमियों ने घेरा, "लकड़बग्घी है न?"

मैंने कहा, "नहीं, पगली है."

एक पढ़े-लिखे जवान मुझसे तन गये, "वाह, लकड़बग्घी है. इतने लोग झूठ कहते हैं?"

मैंने कहा, "मैंने तो औरत ही देखी."

वे ताव खाकर बोले, "भेस बदल लिया होगा." इसका जवाब ही क्या था, मैं चुप हो गया.

एक बार आपको याद होगा कि कुछ छोटे शहरों और गांवों में इंजेक्शन और टीके लगानेवालों के खिलाफ इन चलते-फिरते गजटों ने यह खबर उड़ा दी थी कि ये बच्चों की आबादी घटाने के लिए उन्हें टीके लगाकर मार रहे हैं. इलाहाबाद के पास फूलपुर गांवों में कुछ कैमराधारी पत्रकार इसी धोखे में पिट गये. उनके कैमरे छीन लिये गये, मथुरा में एक बेचारा मलेरिया इंस्पेक्टर जनता के गुस्से का शिकार होकर बुरी तरह तरह पिटा. बल्कि मुझे तो अब भी यही अंदेशा है कि इन चलते-चलते गजटों की कृपा से किसी दिन, रात में कोई साइकिलधारी लंबा जवान धोखे में जनता का शिकार न हो जाये. ऐसी खबरें सचमुच शहर का अंदेशा हुआ करती हैं. इन चलते-फिरते गजटों ने फिलहाल मेरे घर में तो अंदेशा पैदा कर ही दिया है, सर्दी की रातों में अंधेरा यों ही जल्दी होता है और मेरी पत्नी परेशान होने लगती है—'अभी बड़ा नहीं आया, कितने बजे हैं. खबर सच्ची है जी, तुम लोग मानो या न मानो. दिन में धोबी आया...वह भी कह गया, पास-पड़ोस....'

मैंने कहा, "तुम लोग सब ये झूठी-मूठी खबरें उड़ाकर किसी दिन किसी बेगुनाह को शहर में पिटवा दोगी, मुझे इसी का अंदेशा है. □

वह धरती और समय पर अपने को लिख रहे हैं...

■ नरेश मेहता

नागरजी की आत्मीयता का घेरा बहुत बड़ा है. जो इस दायरे में एक बार आ जाता है...फिर जनम भर इसी का होकर रह जाता है. प्रख्यात कवि-कथाकार नरेश मेहता प्रस्तुत कर रहे हैं कुछ ऐसी ही मधुर और अविस्मरणीय स्मृतियां...

● लेखन में व्यस्त नागरजी : लेखनी का साथ बाकी रह गया है...

जब भी नागरजी का स्मरण हो आता है, जो कि प्रायः हो आता है, तो एक ऐसी सुगंध कि जैसे कोई फूल संपूर्ण भाषा बनकर आपके सामने मूर्त हो उठा हो और आप कृतार्थ हो जाते हैं. वस्तुतः आत्मीयता का यदि कोई पर्याय हो सकता है तो वह पं. अमृतलाल नागर ही होंगे. गत चालीस-पैंतालीस वर्षों से इस व्यक्तित्व की माधुरी से सुवासित होता रहा हूं. सन् सैंतालीस-अड़तालीस के वे दिन थे... मैं लखनऊ रेडियो पर था, नागरजी भी बंबई के लावण्य तथा फिल्म की गांधर्वी ऐंद्रजालिकता से बाहर निकलकर लखनऊ आ गये थे. सच तो यह है कि तब का लखनऊ वास्तव में बड़ा ही आमंत्रण देता शहर था जबकि आज के लखनऊ को पैर ही नहीं पंख तक आ गये हैं. तब के लखनऊ और लखनौआ व्यक्तित्वों में एक अजीब बोलता मौन होता था जो आपको उन दिनों के हजरतगंज में सुनसान में तथा कॉफी हाउस की प्रशांत गहमा-गहमी में भी लिखा मिलता था. आप तब चलते हुए या कहीं बैठे हुए अपना व्यक्तित्व खो नहीं बैठते थे. उन दिनों के लखनवी साहित्यिक परिवेश में खासा रूमानी उत्साह था और जिसके केंद्र में थे यशपालजी, भगवती बाबू और नागरजी; तीनों की अपनी-अपनी ध्वजाएं थीं और अंदाज थे. उन दिनों की याद आते ही न जाने कितनी गोष्ठियां, कॉफी हाउस की शामें, गंज की खाली सड़कों पर टहल-टहलकर बहस-मुबाहसे याद आने लगते हैं. सच, उन दिनों क्या हम जानते थे कि आज जो हमारे पैरों के नीचे है और जिस पर हम साधिकार चल रहे हैं, वही एक दिन हमारे लिये अप्राप्य हो जायेगा. मुझे नागरजी का वह चौक का घर याद आ रहा है; जहां वो दुतल्ले पर रहते थे. नागरजी में यह विशेषता सदा रही है कि वह जहां रहते हैं बिल्कुल वृक्षों की तरह अपनी धरती को पकड़कर रहते हैं और मजा ये कि उनके साथ किस्सा तोता-मैना से लेकर उपनिषद् के ग्रंथ तक होते हैं. सारे कोने अतरों में जाने कहां-कहां से इकट्ठी की गयी प्राचीन मूर्तियां होती हैं, लखनवी नफासत का पनडब्बा आपकी ओर ताकता होता है गरज कि आप उनके इस जादुई व्यक्तित्व के अभिन्न अंग हो जाते हैं. नागरजी घुलकर पान का मजा नहीं लेते बल्कि बात भी ऐसी घुलाते हैं कि आपके सामने न जाने कौन-कौन सा मटका तथा ठुमरियों के बोल सजीव होने लगते हैं. बड़ा ही खिलखिली व्यक्तित्व है—जहां धर्म भी है तो थोड़ी-बहुत कम्युनिज्म की भी आहट होती है. सामंती बांकपन उनकी आंखों में किसी भी समय देखा जा सकता है तो कलम और चश्मे में विक्टोरियन आधुनिकता का छींटा भी मिल जायेगा. जहां नागरजी हों वहां बूटी न हो यह मुमकिन ही नहीं, पर हां, कई बार उनकी बूटी आसव-सा मजा दे जाती है. समाप्रियता तो जैसे उनकी रग-रग में है. पर व्यक्तित्व से वह आत्मलीन हैं. किसी भी मध्यमवर्गीय लेखक की भांति नागरजी भी जीवन की आंच में तपे हैं. बल्कि खूब ही तपे हैं. पर क्या मजाल जो उनके गौर वर्ण पर कभी झाईं तक आयी हो. प्रायः चकित होता रहा हूं कि व्यक्तित्व के स्वास्थ्य का वह कौन-सा लचीला आयाम होता है जो निराला के मृदंग व्यक्तित्व से लेकर पंत के वंशी व्यक्तित्व तक के साथ सहज भाव से संगत कर ले जाता है. वह इलाहाबाद प्रायः आते रहे हैं. उन दिनों पं. वाचस्पति की खपरैल वाली बैठक सबके आकर्षण का केंद्र हुआ करती थी. नागरजी के साथ वहां हम बैठे होते और न जाने किन-किन प्रसंगों में हुक्का उतरवा जाता. कौन नहीं होता था जिसका स्मरण न किया जाता रहा हो. मीठी चुटकियां, तरह-तरह के कहकहे, पर क्या मजाल कि मन या संदर्भ पर कोई अवांछित छींटा पड़ जाये. चूंकि खादी की धुली धोती और कुर्ते की भूषा जैसा ही मन भी सबका निर्मल होता था. यदि आपके पास दूध नहीं है तो कोई चिंता नहीं, पानी से ही काम चल जायेगा. बस आप जरा नागरजी को मिलाकर तो देखिए. कैसी मिसरी आप में घुलती है.

नागरजी उन लोगों में से हैं जो चलते हैं तो लगता है कि वह धरती और समय पर अपने को लिख रहे हैं. किसी दिन किसी के भी प्रति किसी प्रकार की भी अपमान की बात मैंने उनसे नहीं सुनी होगी. शरत् बाबू से लेकर हिंदी के अधुनातन लेखक तक से "भैया रे!" वाली आत्मीयता आपको चमत्कृत कर देगी. किसी भी समय उनके वर्तमान हवेली वाले आवास में चले जाइए तो आपको लगेगा कि आप पुष्टिमार्गी वैष्णव मंदिर में पहुंच गये हैं. और बस 'दर्शन' होने ही वाले हैं. प्रतिमा भाभी के साथ स्वर्गीया लगाते हुए जब मुझे ही हाहाकार होता है तो पता नहीं लक्ष्मीनिर्धन इस विष्णु पर क्या गुजर रही है. पिछले महीने ही जब उनका पत्र मुझे उज्जैन में मिला और यह दुर्दांत सूचना मिली तब से मैं उस हवेली और नागरजी दोनों की ठीक-ठीक कल्पना नहीं कर पा रहा हूं. अनेक साहित्यकार दंपति देखे हैं पर ऐसा समरसी विग्रह अन्यत्र नहीं देखा. जो अर्धनारीश्वर भी था और राधा-कृष्ण की 'युगल सरकार' की मोहनी छवि भी. मैं तो उनका अनुज ही हूं. न जाने कितनी अनुकंपाएं मुझ पर उनकी रही हैं और इसीलिए इस सानिध्य को अपने लिए अनुग्रह मानता रहा हूं. भगवान से प्रार्थना ही करता रहता हूं कि नागरजी की यह छत्रछाया इस भाग्यहीन बालक में ही नहीं शतजीवी हो क्यों कि उनके होने में ही कम से कम मैं अपना होना मानता हूं. □

अमृतलाल नागर के उपन्यास : चार

नाच्यौ बहुत गोपाल

श्रीमती निर्गुनिया के संबंध में मैंने कई बस्तियों में सुना था. यह तो आम तौर से सुना कि शहर के मेहतर समाज में शिक्षा का प्रसार करने का काम सबसे पहले उन्होंने किया था. उनका पति मोहना डाकू लगभग चालीस वर्ष पहले बहुत मशहूर होकर पुलिस के हाथों गोली का शिकार हुआ था. श्रीमती निर्गुनिया ने उसके बाद संकटों के बड़े-बड़े आंधी-तूफान झेलकर अपने बेटे-बेटी को पढ़ाया.

श्रीमती निर्गुनिया सोफे पर टांग पर टांग चढ़ाये बैठी बिलकुल मास्टराना अंदाज में सवाल कर रही थीं.

श्रीमती निर्गुनिया ने फल-मिठाई लेकर बोतल मेरे झोले में रख दी. कहा, "बड़े आदमियों का हुकुम टालने की ताब मुझ में नहीं है. आपकी यह चीजें रख लूंगी, पर इसे ले जाइये."

मैंने पूछा, "क्यों?"

"बोतल लाके देनेवाला चला गया बाबूजी; बेटा ले आता है कभी-कभी, मगर वह बात और है." उनका मन समझकर चला आया.

एक दिन पत्र मिला. तो मैं निर्गुनियाजी के घर पहुंचा.

भोजन के बाद चलते समय उन्होंने मुझे एक जिल्ददार नोट बुक थमाते हुए कहा, "एक बार कच्चा-पक्का लिखने की कोशिश मैंने की थी, शायद कुछ काम की बात इसमें निकल ही आये."

आज सम्मत इकतीस की बड़ी धूम है. सम्मत 39 में श्री गुसांईजी महाराज ने भी अपने जी की घुटन श्री सियारामजी के चरणों में अर्पित करने के लिये कागज कलम का सहारा लिया था. मैं भी क्यों न लूं? सम्मत 62 में मेरा जनम हुआ था. मेरे बाप एक हमारे ही बड़े सजाती रहीस, गल्ले-आज के बड़े दलाल और बड़े महाजन के बड़े ही भरोसे के गुमाश्ते थे. मेरी माता एक बड़े पंडित की इकलौती बेटी थी. माता के संस्कार ऊंचे और पिता के नीचे थे. मैंने अपने बचपन में अपनी नानी व उसके पास-पड़ोसवालियों से सुना और बाद में अपनी आंखों से देखा और भोगा कि मेरे पिता मालिक के बेटे की पत्नी, घर की मालकिन के बदनाम रखैल थे.

मेरे बाप ने मेरी मां को कभी सुख नहीं दिया. सुनते हैं मेरी मां को तपेदिक हो गयी थी. नाना आकर उन्हें और मुझे लिवा लाये थे. फिर वह मर गयी. एक दिन हमारी जिज्जी नाना के लिये रोटी सेंकते-सेंकते ही लुढ़क गयी. फिर न उठीं. शहर से खबर पाकर जब मेरे बाबू आये तो नाना ने उनसे कहा कि निर्गुनिया का इंतजाम अब तुम्हीं करो, हमारे दिन भी अब पूरे हो चुके हैं. मेरे नाना उस रात में किसी समै सदा के लिये ही सो गये थे.

मेरे पिता नाना-नानी की, किरिया करके सारी जमाजथा के साथ मुझे लेकर, घर बेचकर शहर चले आये; जिस घर में लाके पहले मुझे उतारा, वह छोटा-सा था. उस घर में अंधेरा बहुत था. फिर वह मुझे एक बड़ी भारी हवेली में ले गये. तिमंजिले पर एक बड़े सजे-सजाये कमरे में मैंने जिस स्त्री को बैठे हुए पाया उसे देखते ही मेरा मन बोल उठा था... यही वह मालकिन है जिसके कि रखैल (?) मेरे पिता हैं. उस औरत ने, जिसे अबसे मुझे अम्मा कहना था, दोनों बांहें पकड़कर मुझे उठा लिया.

अम्मा के घर रहते-रहते धीरे-धीरे मुझे राय साहब पंडित बदुक प्रसाद की उस महल जैसी बहुत भारी कोठी का सारा इतिहास समझ में आ गया. मेरा मन बहुत-सी पहेलियों का जंगल बन गया. फिर धीरे-धीरे वैसे-जैसे पहेलियां सुलझती गयीं वैसे-वैसे ही उस घर में मेरा जीवन भी उलझता गया, तभी रही-सही पहेलियां भी सुलझ गयीं. मैंने तब समझा कि हमारे घर का गुरखा नौकर क्यों इतना चिकना-चुपड़ा बना रहता है. धीरे-धीरे पूरे घर की कथा ही मेरी आंखों के सामने सनीमा की सीनरी-सी आ गयी. मंझले बबुआ और मंझली बहू दोनों के ही बारे में बहुत-सी बातें पता लगीं, उन दोनों का खेल अंग्रेजी था.-कोई बाल-बच्चा भी नहीं था. बड़े बेटे यानी छोटे सरकार और छोटी सरकार ही सबसे साफ-सुथरा जीवन बिताते थे. दोनों को बस एक-दूसरे से ही लगाव था. छोटी सरकार एक-एक पैसे को दांत से पकड़ती थीं. इसीलिये उनकी और रानी सरकार यानी हमारी अम्मा की नहीं बनती थी. छोटी सरकार का सच्चा शील-सुभाव ही हमारी अम्मा को पसंद नहीं आता था. सबसे छोटे बबुआ, वह मुझसे दो बरस बड़े थे. मुझे देखकर उनके बड़े पंख फूटते थे. मुझे उनसे जिस बात का डर था, एक दिन वही हो गया. मैं पूजा कर रही थी. बबुआ सरकार सब मौका महल देखकर ही आये. ठाकुरजी की गवाही में मेरी सारी अनबूझी पहेलियां सुलझ गयीं. बबुआजी ने मुझे जब क्वांरी से नारी बना दिया तो मुझे अपनी चोटी, कंघी आदि शृंगार में भी रस आने लगा. बबुआ से मेरे संबंध की बात छिपी न रह सकी. मेरा गरभ रह गया. और एक दिन अचानक ही सुना कि आज मेरा ब्याह होगा. उसी दिन अम्मा के पुराने मित्र मसेरियादीन महाराज के साथ मेरे फेरे फिरवा दिये गये. मेरे आर्य पुत्र मेरे पिता से भी छह-सात साल बड़े थे. गल्ले के नामी आढ़तिये, पहले महायुद्ध की कमाई से लखपती बने मसुरियादीन महाराज के पास ठाकुर की दया से लक्ष्मी और सब विधि तो टिकी पर पांच ब्याह करके भी न गृहलक्ष्मी टिकी और न कुल दीपक से ही उनके घर में उजाला हुआ था.

पति के दूकान जाने के बाद सारे दिन में यही एक काम आता है. मेहतरानी आवाज देती है. वह पैखाने में दो बाल्टी पानी डालती है.

निर्गुन के लिये मेहतरानी ही दुनिया से संबंध जोड़नेवाली एक मात्र कड़ी है. हर रोज मेहतरानी के जाने पर निर्गुन उदास होती है. आज और भी अधिक हुई, क्योंकि वह आठ दिनों की छुट्टी लेके अपने देवर के घर जा रही है. उसकी जगह कल से लड़का आयेगा. यह एक वाक्य मृगतृष्णा बनकर निर्गुन के मन को प्यासे हिरन की तरह कल्पनाओं के रेगिस्तान में कुलांचे भरवाने लगा.

पहले दिन—"बहूजी, पानी डाल जाइये." आवाज सुरीली पर कड़कदार थी. पानी डालने गयी. कड़ियल जवान देखा, बड़ी-बड़ी आंखें, गेंहुआ रंग, नाक और मुंह पर एक कपड़ा लिपटा हुआ.

युवक धुलाई करके बाहर जाने लगा. निर्गुन ने आग्रह भरी प्यासी आंखों से उसकी ओर देखा, कहा, "खाना खाकर जाना."

अपनी खातिरदारी से झूम-झूम होकर युवक विनत भाव से सिर झुकाकर खाने लगा. निर्गुन खड़ी-खड़ी उसका रूप-रस पीती रही.

"नाम क्या है तुम्हारा."

"मोहन सिंह, वैसे तो सब मोहना, मोहना कहके पुकारते हैं."

"मैं भी तुम्हें मोहना कहके पुकारूं?"

एक धनी वृद्ध व्यापारी की तरुणी भार्या एक मेहतर युवक के साथ भागी थी... दो दिन बाद ही वह अपने प्रेमी सहित पकड़ी गयी. वास्तविक जीवन की इस पात्री ने पकड़े जाने के बाद अपने भविष्य को किस रूप में भोगा...? यह जानने के लिए नागरजी का उपन्यासकार मन जब जागा लोककल्पना में समस्या ने एक और ही रूप धारण कर लिया... परिणाम स्वरूप 'नाच्यौ बहुत गोपाल' का सृजन हुआ, प्रस्तुत है इस उपन्यास का संक्षिप्त रूपांतर—

"पुकारिये, सभी पुकारते हैं."

दूसरे दिन निर्गुन ऐसे ही खड़ी थी. जैसे प्रकृति ने वर्षों पहले उसे धरती पर भेजा था. मोहना का एक हाथ पकड़कर अपनी ओर खींचते हुए उसने धीरे से कहा, "बाहर के दरवाजे बंद कर दो."

संस्कार-संकोच टूटने पर मजबूर होते ही गये. चलते समय मोहना को सौ का नोट दिया कि खाना-खर्चना.

छठे दिन निर्गुन अपने जोड़े हुए 8000 रुपये, सोने के पांच मुट्टे साठ गिन्नियां और ब्याह के समय बाप से पाये हुए गहने, चार-छह साड़ी—जंफरों के साथ, पोटली में बांधकर शाम के समय मसुरियादीन के घर लौटने के पहले पीछे के दरवाजे से भाग खड़ी हुई. मोहना ने तय कर लिया कि वह निर्गुन को अपने मामा-मामी के घर ले जायेगा. अगर उसे घर में न रखा तो फिर और आगे देखा जायेगा. कच्ची मिट्टी के घरों की कतार में आखिरी मकान निर्गुन की 'नयी ससुराल' था. मोहन ने कुंडी खटखटायी, मामी को आवाज लगायी, मामू की खांसी सुनी, कुंडी खुली, मोहन ने मामू के पैर छूये, देखा-देखी निर्गुन ने भी पैर छूये.

"ये कौन हैगी बबुआ."

"समझ लो तुम्हारी बहू हैगी. बूढ़े मरद की छठी-सतहीं औरत हैगी बिचारी. वह साला हरामी इसे मारे और दुख दे. बिचारी जान बचाने खातिर घर से निकल आयी सो सरन में आ पड़ी.'

चारपाई पर बैठे मामू ने पूछा, "किस जात की लुगाई है?"

"सबसे ऊंची जात की."

निर्गुन भला-बुरा सब कुछ सुनती रही गुमसुम.

मुहल्ले का खराब वातावरण देख निर्गुनिया वहां न टिकी. छावनी बाजार शहर से तीन मील दूर है. आधे मील की सूनी सड़क पार होते देर न लगी.

"यही है मेरे यार सिकंदर का क्लब घर. सिकंदर साला किस्मत का सिकंदर है." मोहना बोला.

"अरे मेरे कहे पर चलो तो मैं तुम्हें उससे बड़ा तकदीर का सिकंदर बनाकर दिखला सकती हूं. सुनो, तुम पहले मुझे अपने दोस्त की बीबी से मिला दो."

"नहीं, पहले ठहरने की जगह पर चलेंगे. यहां तो आना ही है."

सिकंदर मसीह के क्लब में भीड़ अभी बहुत ज्यादा नहीं थी. मुश्किल से दो ही चार आदमी बाहर के थे. तभी मोहन और निर्गुनिया पहुंचे—"मेरी, सिकंदर कहां है साला?"

मरियम ने बगैर सिर उठाये ही उत्तर दिया, "जाने कहां गया है, मैं काम के मारे मरी जा रही हूं, मोहन, जरा तुम्हीं हेल्प करो ना प्लेट पकड़ा दो. ओहो, ये नयी कौन आयी है भाई! यही है तुम्हारी मिसिज?"

निर्गुन और मरियम ने एक दूसरे की आंखों में आंखें डालीं.

रात में क्रिसमस केक कटा, गाने हुए, खाना-पीना हुआ.

दूसरे दिन सबेरे ही निर्गुन और मोहन जल्दी से उठकर मालिक के बंगले पर चले गये. टीले पर चढ़ते-चढ़ते मोहन रुक गया. निर्गुनिया का हाथ दबाकर उसकी आंखों में आंखें डालकर कहा, "कसम खाओ कि तुम किसी भी दबाव में आकर किसी गैर के बच्चे को जनम न दोगी." मैंने कसम खा ली.

क्लब घर के दरवाजे पर पहुंचा कि मार्था मोहना को किनारे ले गयी और धीरे से कहा, "वहीदा डाकू को पता लग गया है कि उसके लौंडे को तुम्हारे मास्टर ने रख लिया है. वह अपना बदला लेने आया है. मोहन! तुमने मुझसे कभी लौ तो नहीं किया, पर तुम हमारे फरेंड हो. जान प्यारी हो तो वहीदा से मिलने से इंकार न करो."

मोहन का रोयां-रोयां थरथरा रहा था. कांपते स्वर में धीरे से कहा, "वह अगर डेविड से अपना बदला ले तो मुझे कोई एतराज नहीं है. मगर जिस मालिक का इतने दिनों में मैंने नमक खाया है मार्था, जिस उस्ताद से काम सीखा है, उसकी जान लेनेवाले का दलाल हरगिज नहीं बनूंगा... भले ही वो मेरी जान ले ले."

मार्था जैसे ही मोहना के साथ अपने घर की तरफ मुड़ी वैसे ही उसने पेड़ के नीचे किसी काली छाया को खड़े देखा. होठों में सिगरेट दबाये मोहन के कंधे पर हाथ रखते हुए मार्था बोली, "कौन है?"

"जोनाथन."

"बाहर क्यों खड़ा है बुड्ढे?"

"चुप साली, पास आ. ये तेरा नया यार कौन है?"

मार्था ने उत्तर न दिया और बीच वाली कोठरी में ले के चली गयी.

अंदर वहीदा चारपाई पर अधलेटा हुक्का गुड़गुड़ा रहा था.

हुक्का गुड़गुड़ाते हुए वहीदा बोला, "तो तुम्हीं हो मोहना?"

मोहना को कोई उत्तर न सूझा, गुमसुम खड़ा रहा.

"बैंड मास्टर के यहां कितने बरसों से काम करते हो?"

"अजी आठ बरसों से."

अपने मालिक के पास कोई हीरे का जेवर देखा हाल ही में?"

"जी नहीं सरकार."

"देखो जी मोहना. कल तक उसका पता मिल जाना चाहिए."

"मैं पता लगाऊंगा हुजूर."

आज निर्गुनिया का व्यवहार पहेली-सा लग रहा था. घबराकर वह रोने लगी, "तुम्हें मेरी कसम, बता दो."

"क्या बताऊं, मुसीबत में जान फंस गयी है. वहीदा आज रात में अपना हार लेने आ रहा है. कहीं कोई उल्टी-सीधी बात हो गयी तो आफत आ जायेगी."

तभी पीछे का दरवाजा खुला!

भीतर की सिटकनी गिर गयी. दरवाजा खुला. मोहन के सामने वहीदा खड़ा था. सभी इधर-उधर तलाशी लेने लगे. टाल खुलवा के लीग के लड़कों को पिस्तौल से धमकाया गया.

बाथरूम का दरवाजा अधखुला पड़ा था. दरवाजे के पल्ले से ही लगा हुआ एक पैर झलका. मोहन उधर ही लपका. डेविड के हाथ पीठ की तरफ बंधे हुए थे और मुंह पर पट्टी थी. खून कहीं दिखलाई न पड़ा. मुंह के पास गया. नाक पर हथेली रखी. सांस चल रही थी.

आवाज सुनकर चोर की तरह आंखें खोलीं. उसे जीवित देखकर मोहन को जहां एक ओर अजीब-सी राहत मिली, वहीं साथ ही साथ क्रोध भी भड़का, "साले हरामी की औलाद. हार कहां रखा है तूने?" डेविड आंखें फाड़कर उसे देखता रहा. मोहन ने उसके मुंह की पट्टी खोल दी. वह चीखा था कि मोहन ने उसका मुंह दबा लिया और कालर घसीटकर मास्टर की लाश के पैरों के पास गिराते हुए बोला, "हार कहां है? साले बोल, नहीं तो यह छुरा तेरी छाती में भोंक दूंगा."

"अ. . अ. . अल्मारी के. . . पीछे."

मोहन पकड़कर उसे उठाते हुए उसकी कमर पर लात मारकर बोला, "जल्दी निकाल, तेरा खसम बाहर खड़ा है."

डेविड अभी फर्श पर ही बैठा था. आंखों में खून और जबान पर गालियों की बड़बड़ाहट लिये मोहना उस पर टूट पड़ा. वहीदा खड़ा सिगरेट फूंक रहा था. उसके चार आदमी कमरे की तलाशी ले रहे थे. मोहना का दिमाग पहले से ही उड़ा था. अब वहीदा को देखकर पूरी तरह से भयस्तब्धता आ गयी किंतु जड़ता में भी जिजीविषा जाग्रत अंतर्शक्ति बनी हुई थी. उसका रूमालवाला हाथ वहीदा के सामने बढ़ गया. हथेली खुल गयी. बोला, "काम हो गया. आओ जल्दी." वहीदा तेजी से फाटक की ओर झपटा. उसके आदमी भी निकले और मोहना भी साथ हो लिया. वह डेविड के रक्त से घबरा गया था.

अपनी पोटली उठाकर निर्गुनिया चल पड़ी. दिशाहीन मन. मरियम बाई चूंकि उसे दुतकार चुकी थी. दिशाहीन मन तो चलते-चलते न थका. पर टांगें भर आयीं. मैले का टोकरा बहाने-धोने के लिए मसीताराम इधर ही आया करता था. आज दोपहर आया तो बगल की दीवार के पास दो जनाने पैर देखे. बुखार में तपती काया को वह अपने घर ले गया. पंद्रह दिनों में निर्गुनिया पूरी तरह से स्वस्थ हो गयी. मोहन की खैर-खबर अब तक न मिली. निर्गुनिया ने हठ करके मकान मरम्मत लगवा दी थी. निर्गुन का खंडहर मन भी अब क्रमश: बनने-संवरने लगा था.

सरकार ने मोहना डाकू को जीवित या मृत पकड़ लानेवाले व्यक्ति के लिये तीन हजार रुपये का इनाम घोषित किया.

निर्गुन ने एक बेटी को जन्म दिया. बच्ची को अपने पास पड़े देखकर निर्गुनिया को अपार तृप्ति मिल रही थी.

रात के नौ बजे मोहना का भेजा हुआ आदमी श्योबक्स अचानक आया. कहा, "सरदार ने अभी के अभी बुलाया है."

निर्गुनिया सुनकर धक रह गयी. कहा, "भैया, बिटिया लेके तुम्हारी साईकिल पर कैसे जाऊंगी."

"फिकर नहीं भौजी, मोटर गाड़ी लाया हूं. मोहन ठाकुर तुमसे ज्यादा अपनी बिटिया को देखने की खातिर उतावले हो रहे हैं."

छावनी से कुछ मील दूर बेहड़ के पास ठाकुर हरबंशसिंह की हवेली में मोहना का पड़ाव था. निर्गुनिया और शकुंतला को देखकर उसकी आंखें चमकीं, "हाय, कैसी प्यारी-प्यारी है. हुबहू तुम्हारी सूरत है."

सुनते ही निर्गुनिया के मन के सारे पाप खुशी के पुष्प बन गये. मोहन की सभी बातें निर्गुन अपने साथ गांठ बांधकर लायी थी. मोहन ने रम और व्हिस्की की दो बोतलें भी उसे दी थीं. व्हिस्की पुरानी थी, निर्गुन के लिये, रम की बोतलें बुड्ढे-बुढ़िया के वास्ते.

उसी रात मसीताराम बीमार पड़े. मसीताराम का ज्वर लंबा खिच गया. उसकी जिजमानी का काम एवजी पर मज्जू कर रहा था. लेकिन अब घबरा रहा था.

राम राम. मेरे नसीब का जनाजा भी बड़ी धूमधाम से निकला था. मुझे इस समै अपने उस दिन की याद बड़ी जोरों से आ रही है, जब मैं अपने जिजमानों के घर देखने के लिए मज्जू के साथ पहली बार गयी थी.

श्रीमती निर्गुनिया का लेख यहीं अधूरा छूट गया. मेरा मन बड़ा तड़पा, मैं निर्गुनियाजी से मिलने आया. उनके घर-दरवाजे पर रिक्शा रुकवाकर आवाज दी. उनकी आवाज बहुत डूबी हुई नहीं थी.

पक्की पियक्कड़ है यह स्त्री. शाम को पीने-पिलाने के अलावा जैसे और कोई महत्वाकांक्षा ही नहीं रहती इनकी. वह आटा मांडने लगी. मैंने कहना शुरू किया. "आपका वो जिजमानी के घर देखने के लिए जानेवाला अंश पढ़कर मैं तिलमिला उठा. वो फकीर आपको क्या और भी कभी मिला था निर्गुनियाजी?"

"बहुत बार बाबूजी, वह फकीरा तो मेरी सहेली ही बन गया."

अपनी तात्कालिक गृहस्थी के कामों से छुट्टी पाकर जब वह बैठी और दो पैग जल्दी-जल्दी अपने हलक के नीचे उतारकर वह नार्मल हुई तो कहने लगी, "बाबा ने मुझे दो कहानियां बार-बार सुनायी थीं. एक जड़भरत की, दूसरी महावीर स्वामी की."

खैर, यह तो आपके आध्यात्मिक अनुभवों की बातें हैं. यह बतलाइए कि दूसरे दिन आप अपने मेहतर-कर्म पर गयी थीं? क्या-क्या अनुभव हुए थे आपको? कैसा लगा था?"

"ऐ बाबूजी, अरे क्या मैले की गंध सूंघोगे मेरी बातों से? कहां का पचड़ा लगाया." तीस बरस यही काम करके बिताये हैं बाबूजी, इधर पंद्रह-सोलह बरसों से छूटा है."

मैंने बात मोड़ी, पूछा, "फिर मसीताराम कब तक. . . ."

"अरे वो तो बड़ा संजोग रहा. जिस दिन मैं पहली बार गयी, उस दिन शाम को जब घर लौटकर आयी तो मसीताराम चच्चा जा चुके थे."

"और आपके मोहन?"

"हां, एक बार ये. . .मेरे मेहतरानी का काम संभाल लेने पर तो वे मेरे ऊपर जी-जान से लुट गये. पादरी का चोगा पहन के नकली दाढ़ी-उढ़ी लगा के आये थे."

"मैं आपसे प्रार्थना करता हूं निर्गुनियाजी, अपने मेहतर जीवन में जो कड़वे-मीठे अनुभव आपको तरह-तरह के लोगों से हुए हैं, उन्हें कृपा करके एक बार जरूर लिख डालें."

"अब लिखना-विखना तो होगा नहीं बाबूजी. हां, कल फिर आइये."

दूसरे दिन जो कथा सुनी वह इस प्रकार है—बोलता बायस्कोप 'आलमआरा' दिखलाकर मोहना ने श्रीमती निर्गुनिया को दो दिन होटल में ऐश कराया और फिर लापता हो गया. उसके लगभग महीने-डेढ़ महीने बाद मोहना गुल्लन दाई को एक दिन अचानक शहर में ही मिल गया. दाढ़ी-मूंछ मुड़ाये साहबी पोशाक में मोहना ने गुल्लन के कंधे पे धीरे से हाथ रखा. "चच्ची, मेरा नाम मत लेना. इधर आओ."

मोहन गुल्लन को एक किनारे ले गया पूछा, "नर्गुनिया ठीक है?"

"हां भैया. मैं वारी जाऊं खूब मिले. घर नहीं चलोगे?" और मोहन ने भावुक होकर शाम को गुल्लन की सराय में आने को कहा. बस, गुल्लन ने दरोगा को खबर कर दी. मोहना मारा गया. मोहना की लाश देख पहली बार निर्गुन की आंखों में आंसू आये. फिर निर्गुनियाजी दो-तीन बार मिलीं. घर आयीं. और एक-एक गाथा सुना गयीं. एक दिन पता लगा कि वे नहीं रहीं. दौड़ा हुआ उनके घर गया. एन. एम. ने एक लिफाफा मुझे थमाया जो मेरे नाम ही था. खोलकर पढ़ा—"कल आपसे सब कुछ कहकर अपना मन खाली जरूर कर लिया था. . . . पर एक बात की चोरी कर गयी थी. स्लीपिंग पिल्स बरसों से खाती थी. . .कल आपसे अपने जनम का हिसाब चुकाकर आयी तो सोचा कि अब सोने की टिकियों का हिसाब भी चुका लूं. आप इस जीवन में चलते-चलते खूब मिले. . ." □

संक्षिप्त रूपांतर : विनेश द्विवेदी

अमृतलाल नागर प्रियजनों की नजर में : आठ

वे जितने दिन जियेंगे. . .

▣ केशव चंद्र वर्मा

नागरजी व अन्य अनेक लेखकों के साथ सहकर्मी, सहयोगी और उनकी रचनाओं के श्रोता-पाठक के रूप में जुड़े रहने का अवसर वर्माजी को मिला है. . . नागरजी अन्य तमाम लेखकों से क्यों और कहां महत्वपूर्ण हो उठते हैं—बयान कर रहे हैं स्वयं केशवचंद्र वर्मा–

हिंदी साहित्य में कुछ विभूतियां जो शेष रह गयी हैं उनमें मेरे अभिन्न अग्रज पंडित अमृतलाल नागर शीर्षस्थ की श्रेणी में हैं. लखनऊ की प्रसिद्ध उपन्यासकार त्रयी-सर्वश्री यशपाल, भगवती बाबू और अमृतलाल नागर में अब काल ने केवल नागरजी को ही हमारे बीच अभी और भी महत्वपूर्ण और सार्थक रचने के लिए छोड़ा हुआ है. नागरजी उन अकेले रचनाकारों में हैं जो अपने जमाने के दुख-दर्द से, पूरे सामाजिक जीवन से, अपने मुहल्ले, अपने नगर से नखशिख जुड़े हुए रहे हैं. हर मुहल्लेवाला उन्हें अपना मानकर सीधे अपनी समस्या लेकर पहुंचता रहा है, वे सचमुच आम आदमी की आकांक्षाओं से जुड़कर अपनी कलम को मंत्र-भूत करते रहे हैं. उनकी लोकप्रियता और उनकी भाषा के अनूठे तेवर का यही रहस्य है.

नागरजी से मेरा पहला साक्षात्कार उनकी हास्य पुस्तक 'नवाबी मसनद' से हुआ था. तब मैं अपने पैतृक—नगर फैजाबाद में विद्यार्थी था. उस पुस्तक के मजामीन इतने जानदार थे कि हम लोगों को उसका नाट्य रूपांतर करके खेलते देर न लगी. हमें वह भाषा अपनी रोजमर्रा की जिंदगी में भी मजा देती.

मुझे वह दिन अब भी याद है जब नागरजी ने अपना बाद में बहुचर्चित उपन्यास 'बूंद और समुद्र' लिखकर पूरा किया था. उसे सुनाने और प्रकाशित कराने के लिए वे इलाहाबाद आये. इलाहाबाद में वाचस्पति पाठक और पं. सुमित्रा नंदन पंत उनके बड़े निकट थे. इसी बीच नागरजी ने संभवत: पाठकजी के माध्यम से 'परिमल' के कुछ नये लिखनेवालों से भी मित्रता कर ली थी—भारती (धर्मवीर), साही (विजयदेव नारायण), मैं और गिरधर गोपाल. उस दिन दोपहर में यह मित्र मंडली मेरे घर पर थी. नागरजी सबको खोजते हुए वहां पहुंचे. तख्त पर बैठे और फिर अपने झोले से 'बूंद और समुद्र' की पांडुलिपि निकाली. बांचना शुरू किया. क्या समां बंधा था. घंटों वे पढ़ते रहे—सब मंत्रमुग्ध सुनते रहे. क्या ताई का चरित्र चित्रण—क्या माहौल—क्या मुहल्ले की वजादारी और उस सबको समेटती हुई भाषा का क्या तेवर! नागरजी ने उसी दिन साहित्य के मैदान में अपना अंगद का पांव रोप दिया. नागरजी की कलम की वह धार थी कि हर पहचाना हुआ पात्र एक जादुई रंग में रंगकर हम तक पहुंच रहा था. वह ताई का चरित्र और नागरजी का रस ले-लेकर मजेदार पाठ आज तक हम सबके दिल चित्त पर चढ़ा तो चढ़ा ही रहा.

यह भी एक 'हुस्ने इत्तिफाक' ही था कि अगले चरण में हम और नागरजी आकाशवाणी में भी साथ-साथ हुए. वे लखनऊ के नाटक कार्यक्रमों के प्रोडयूसर हुए—मैं भी इलाहाबाद सुमित्रानंदन पंत के न्यौते पर नौकरी करने के लिए आया और ग्रामीण कार्यक्रम चलाने लगा. तब इलाहाबाद और लखनऊ केंद्र के कार्यक्रम एक साथ ही होते थे. इस कारण हम लोगों का मिलना-जुलना अधिक ही होता. पंतजी के सहयोगी थे हिंदी आलोचक दिवंगत श्री विश्वंभर मानव. वे भी बाद में लखनऊ चले गये. नागरजी की उनसे बड़ी दोस्ती थी. वे उन्हें 'लव मिनिस्ट्री' का 'मिनिस्टर' कहते थे. भगवती बाबू भी लखनऊ केंद्र पर थे—नागरजी उन्हें 'नेता' कहते और मानते भी थे.

नागरजी ने रेडियो में रहकर उर्दू बोझिल पुराने ढर्रे के नाटकों से प्रसारण को मुक्त करा दिया. बहुत तरह के कार्यक्रम शुरू हो गये—नाटकों का नया सिलसिला शुरू हुआ. नागरजी ने पुरानी हिंदी की रचनाओं की रेडियो के माध्यम से श्रोताओं में उनकी सार्थकता की पहचान बनवाई. इलाहाबाद में उत्साही केंद्र अध्यक्ष थे—श्री गोपाल दास. उन्हें नयी योजनाएं बनाने और उसमें नागरजी को शामिल करने की बात कभी भूलती नहीं थी. बहुतेरे हास्य-व्यंग्य के नये कार्यक्रम हुए, गप्प सम्मेलनों की तो शुरुआत ही उन्हीं दिनों हुई जब श्रोताओं के समक्ष कविता छोड़कर गद्य पढ़ने की परंपरा का रेडियो पर श्रीगणेश हुआ. ये गद्य-सम्मेलन खूब जमते—लखनऊ में भी,

● लखनऊ की उपन्यासकारत्रयी यानी हिंदी के तीन महारथी: सर्वश्री भगवतीचरण वर्मा, नागरजी और यशपालजी.

इलाहाबाद में भी!

नागरजी को रेडियो माध्यम की निरर्थकता का बोध बहुत जल्दी हो गया. उसमें बने रहकर सिर्फ तनख्वाह खींचने और एक नकली सुरक्षा के छाते में रहना, उन्हें खलने लगा. नौकरी एक झटके से छोड़ दी. बिना किसी गिला-शिकवा-शिकायत के. निश्चय ही वह क्षण बहुत महत्वपूर्ण और भाग्यशाली था हिंदी के लिए—अन्यथा नागरजी की अनेक कालजयी कृतियां जन्म ही न पा सकतीं.

लेखन उनका नशा है. उनकी प्रियतमा—भांग से भी अधिक.

नागरजी से मैंने कई दौर में बातचीत की है. पुस्तक के लिए इंटरव्यू, अखबार के लिये भेंट-वार्ता, रेडियो के लिए बातचीत. बातें खुलकर वे करते जो उनकी पीढ़ी के लेखकों में दुर्लभ थीं. उनकी एक बात दिमाग पर चढ़ी रह गयी—वह भी उनके चुनिंदा पात्रों के जरिये उनका दुनिया को देखने-समझने का तरीका. वे मनुष्य को ही केंद्र में रखकर रचते हैं. यही उनकी सामर्थ्य है. और यही सीमा भी. सूर या तुलसी भी महात्मा के रूप में नहीं—समग्र मनुष्य के रूप में नागरजी को आकर्षित करते हैं.

नागरजी के साथ-साथ मैं और भारती (धर्मवीर) नैमिषारण्य की यात्रा पर गये. तब बातचीत के दौरान पता चला कि नागरजी लेखन किन स्रोतों की नींव पर खड़ा करते हैं—उसमें पुरातत्व भी एक विषय है. मिट्टी, मूर्ति और पुरानी ईंटें—नागरजी से बात करने में सक्षम हैं. उन्होंने समाज और साहित्य के अनेक आंदोलनों में आगे कदम उठाया—बहुत कुछ बदला. नये से अपने को जोड़ा लेकिन कभी अपने अनुचरों का प्रभामंडल बनाकर उसे भुनाने और साहित्य में उससे अपनी हैसियत बनाने का भ्रम नहीं पाला. उनका जैकारा उनकी कलम लगाती रही. शायद यह रास्ता बहुत कठिन है. वे जितने दिन जियेंगे लिखनेवालों को इस रास्ते की पहचान सरलतर होती जायेगी. □

साक्षात्कार

अमृतलाल नागर के साथ कन्हैयालाल नंदन की अंतरंग बातचीत

"अब इतना लिख चुका हूं कि आप रबर लेकर लेखन की दुनिया से मेरा नाम मिटा नहीं सकते."

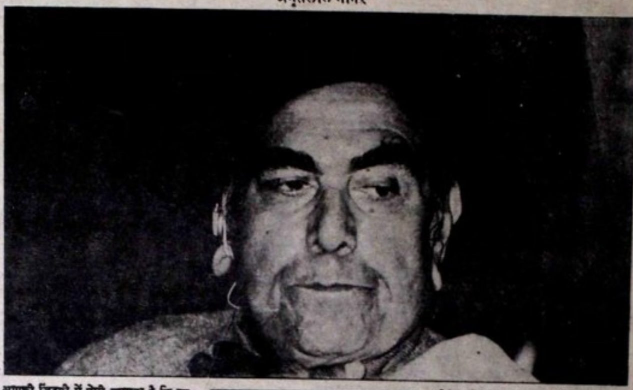

अमृतलाल नागर

उपन्यास लेखन में नागरजी की एक अलग ही छवि है. कोई भी उपन्यास लिखने से पहले वे उसके विषय पर भरपूर शोध करते हैं. 'मानस का हंस' उन्होंने अयोध्या जाकर लिखा. 'नाच्यो बहुत गोपाल' लिखने के लिए उन्होंने मेहतरों की बस्तियों के चक्कर लगाये... उनकी इसी लेखन प्रक्रिया तथा जीवन के कुछ अंतरंग पक्षों पर उनसे बातचीत की है 'सारिका' के भूतपूर्व संपादक तथा हिंदी के सुपरिचित रचनाकार-पत्रकार कन्हैयालाल नंदन ने

आपकी जिंदगी में ऐसी समग्रता है कि हर किसी का मन मोहती है. हम उसी जिंदगी के अनुभव खंडों को पकड़ना चाहते हैं. जब आपने 'गदर के फूल' लिखा तो गांव-गांव भटके, लोगों से मिले और उस तरह की सामग्री बटोर के लाये. जब ये 'कोठेवालियां' लिखा तो आप कोठों पर भी गये. फिर भी आप कोठेवालियों के पास जाने के बावजूद किसी लांछन का शिकार नहीं बने. अब वह जमाना नहीं रह गया. यह बदलाव कैसे आता गया? चरित्रों पर लांछन लगाने का इतना ज्यादा चलन शायद पहले के जमाने में नहीं रहा होगा. आपने क्या अनुभव किया?

देखो, तुमको एक बात बताऊं—जब 'नाच्यो बहुत गोपाल' के लिए निकले तो . . .अब तो एक तरीका है कि मालिक से माल लिया और मालिक को ही दे दिया. हम भंगियों से इंटरव्यू लेने पहुंचे. तीन-चार बार तो बिलकुल टाल गये. पढ़े-लिखे तो अक्सर नहीं हैं लेकिन हैं बड़े होशियार. उन्हें यह मालूम है कि यह कमबख्त जो नागरजी नामक आदमी है, यह छापे से संबंध रखता है. इसलिए वह उनसे डरता रहता है कि हम कुछ बतायेंगे तो यह छाप देगा. हमारी बदनामी होगी. हम उनके महल्ले में गये. एक जगह झंडियां-बंडियां लगीं, उनके बीच बैठे. वे चाय लाये तो हमने चाय भी पी. तो मन में अपने आया कि नागर, अगर आज से 50 साल पहले तुमने यह किया होता तो बिरादरी से ही नहीं, अपने महल्ले से भी निकाल दिये गये होते. आज तुमसे कोई बोलने वाला नहीं है. आज यह सुविधा अवश्य है. यह सच है कि आज हमने कल से अधिक आज के समाज को तोड़कर व्यापक कार्य किया है. लेकिन किया इस तरह से कि समाज टूटेगा ही इसलिए कि वह नियंत्रण में नहीं है. हमारे पिता के विवाह में हमारी बुआ इसलिए सम्मिलित नहीं हो सकती थीं कि उनके जेठ विलायत हो आये थे. आज इसकी कोई परवाह नहीं करता. इसलिए मान्यताएं तो अब बदल गयीं, यह तो मानना ही पड़ेगा. लेकिन मैंने हमेशा सहज रहने की कोशिश की. मैं हमेशा यही सोचता रहा कि अगर तुम सहज नहीं रहोगे तो लेखक क्या बनोगे.

मैं भी यही कहता आ रहा हूं कि जब आप आदमी ही अच्छे नहीं होंगे तो अच्छा लिखेंगे कैसे? कुछ अपवाद इसके भी होते होंगे. लेकिन मैं एक लेखक के लिए अच्छा आदमी होना भी आवश्यक मानता हूं.

देखो नंदन, मैं चप्पल चटकाऊ लेखक रहा हूं और हर जगह मेरी चप्पल चटकती रही है.

वैसे चप्पल आपने समाज पर भी चटकाये हैं.

और इसी तरह चटकाता रहूंगा. घूमता रहूंगा और चटकाता रहूंगा.

इस घूमने-फिरने में कहीं आपका रमने का भी मन हुआ?

हुआ है. कहीं एक जगह पर मन ऐसा रमने लगा है कि जहां आप सबके साथ रहते हुए भी मैं ही हूंगा. लेकिन यह सन्नाटा बड़े शोर में, पागलखाने के शोर में भी मजा देता है.

इस शोरवाले सन्नाटे में कभी समाधिस्त होने की स्थिति बनती है? जहां लगे, कोई आपको छेड़े नहीं.

अक्सर बनती है. जरूर बनती है. थोड़ा झूठ भी बोलना पड़ता है. हम ऐसी जगह चले जाते हैं जहां न टेलीफोन है और न कोई आ सकता है. ऐसा कभी हर जगह होता होगा. मैं समझता हूं कि हम बहुत व्यापक होते हुए भी अपने में सिमट जाना चाहते हैं. सिमटने के लिए नहीं बल्कि उस व्यापकता को और बढ़ाने के लिए.

कई बार आपको यह शिकायत होती है कि हमको समाज में समझने वाले व्यक्ति बहुत कम मिले. इसके पीछे यह कारण भी हो सकता है कि अगर आप बहुत चूजी हो गये तो बहुत सारे लोगों को आप ही छांट देते हैं. लेकिन फिर भी यह इच्छा होती है कि आपके अंतरंग को समझने वाला एक मित्र मंडल हो. कई बार ऐसा होता है कि आप व्यावहारिकता में सोचते हैं कि किसी का दिल दुखाने से क्या फायदा, इसलिए उसके साथ अंतरंगता का धोखा जीते हैं. लेकिन आप समझते हैं कि आपने उसको एक अंतरंग नहीं दिया. ऐसा भी होता है. 'गदर के फूल' से लेकर 'कोठेवालियां' तक और भंगियों के चौराहे से लेकर 'मानस के हंस' तक क्या कभी कोई स्थिति ऐसी आयी होगी कि जहां आपको लगा होगा कि अगर यहां ज्यादा रुका तो यहां अपने को दे डालने की स्थिति न बन जाये?

स्थिति आने की बात ही नहीं है. मैं वहीं रुका हुआ हूं. इन सबके साथ आगे चलते हुए भी एक ऐसी जगह हूं जहां मैं रुका हुआ हूं. तुम लोग आये. डिस्टर्ब नहीं करते हो. वह तो मैं पहले ही कह चुका हूं. क्या होता है कि एक आदमी था मेरा दीवाना, जिसकी फोटो, जहां मैं बैठा हूं उसके पीछे लगी है. बंबई में रहता था. जो अर्थ की दुनिया है. वहां कालबा देवी की एक कोठी के दरबान की कोठरी में रहता था. इस शख्स ने अजीब तरह से मुझे प्रभावित किया. उसने मेरे प्रच्छन्न ब्राह्मण संस्कार तक धो दिये. जहां धोया है, वहां पीढ़ा भी बिछाया है और पीढ़ा बिछाया है तो किसी के बैठने के लिए बिछाया है. और जब बिठा दिया है तो फिर मुझमें उसको उठाने की हिम्मत नहीं रही. मैं उससे भागूं, एस्केप करूं, लेकिन एस्केप भी साला कहां तक करूं. एक जगह तो तुमको यह बता दी. . .

जब आपके ब्राह्मण संस्कार धुल रहे थे तो उस वक्त कहीं आपको द्वैत जकड़ रहा होगा. लगता होगा कि यह मैं क्या कर रहा हूं. इस दिशा में जाऊं कि न जाऊं. इसमें परिवार या उसका रहन-सहन, उसके संस्कार कहीं आड़े आये?

परिवार तो मेरे साथ ही था. पूरा परिवार न कहूं, लेकिन पत्नी भी, बेटी अचला भी, लेकिन कभी कुछ आड़े नहीं आया. सवाल ही नहीं उठता आड़े नहीं आने का.

कभी न कभी तो आया होगा.

वह बड़े अजीब तरह से आया था. लेकिन वह पहली बार नहीं आया था. 'मानस का हंस' लिखने के वक्त मैंने जी. पी. शुक्ला से कहा कि मुझे एक छोटा-सा कमरा दिलवा दो. वह साहब आदमी, उसने दिलवा दिया. वहां जब तक रहा तो मेरी बीवी के मन में कहीं यह कुंठा जरूर खटकती रही कि कहीं यह संन्यासी न हो जाये. हमारी सास जीवित थीं. वह उन्हें समझावें, लेकिन उसकी समझ में ही न आवे. क्योंकि यह मेरी धर्मपत्नी है. यह जब कभी अड़ती है तो ऐसी अड़ती है कि मेरी चोटी तक हिलाय देती है. सबके मन को लग गया. कहीं ऐसा तो नहीं है? और सही बात है. ऐसा होता भी है. जो पूरी तरह अपना आपा खोकर आपको चाहता है तो बाहर वाले के लिए वह बड़ा अजीब भी होता है. लेकिन होता तो है. तो जो इसके मन में खटका था, उससे रहा नहीं गया. उसने अचला, अचला के पति और शरद, इन सब लोगों को ऐसे अयोध्या भेजा जैसे अयोध्या देखना हो. लेकिन गये तो थे मुझे देखने. देख आये थे. जब मुझे पता चला तो मैंने कहा, धत्त तेरी की. लेकिन मेरी पत्नी मेरे लिए बाधक कभी नहीं बनीं. हमेशा साधक ही रहीं. पढ़ी-लिखी नहीं थी बेचारी. लेकिन एक ही चीज, रोज लड़ाई होती. जिस दिन लड़ाई नहीं होती उस दिन लगता कि आज दिन ठीक नहीं (और एक जोरदार ठहाका).

धीरे-धीरे लोग यह समझने लगे हैं कि लेखक को समाज से कुछ लेना नहीं है. कुछ न कुछ देना ही है.

लेंगे, रिरिया कर नहीं. हमें समाज से कुछ नहीं चाहिए. और अब तो और कुछ भी नहीं चाहिए. सिर्फ शाम की थोड़ी-सी बूटी का इंतजाम है. किसी न किसी तरह जुगाड़ हो जाता है. क्या किसी से लेना! दिन और शाम की दुई रोटी चाहिए और कुछ नहीं. लेकिन दायित्व होते हैं कि नहीं. मैं बाप हूं. पिता हूं. बाबा, नाना हूं. कुछ दायित्व हैं, जो मुझे निभाने ही हैं. तो उन दायित्वों को निभाने के लिए जो आवश्यक है सिर्फ उतने की दरकार है. बाकी वाकई मुझे किसी से कुछ नहीं चाहिए. लेकिन अब इसके लिए हाथ पसारूं, यह बहुत गलत है. उस समाज की बहबूदी हम कैसे मानें, जिसमें आपके बच्चे गंदी से गंदी, रद्दी से रद्दी जिंदगी जीने के लिए मजबूर हैं.

भगवती बाबू से मैंने एक बार ऐसे ही सवाल किया था कि आपको लेखन के लिए सबसे अधिक प्रेरित करने वाले तत्त्व क्या होते हैं. तो उन्होंने बड़ी गंभीरतापूर्वक और विश्वास में लेते हुए कहा कि नंदन, असली प्रेरक तत्त्व मेरे लिए रुपया है. पइसा लाओ हमसे लिखवाओ. कम पैसा दोगे. देर में लिखेंगे. हजार रुपया देंगे, जल्दी दे देंगे.

भगवती बाबू के मुंह पर कहा करता था कि आपकी तो भगवतीशाही है. उनकी बात अलग है. वह जब तक चार घर झांक नहीं लेते थे मारवाड़ियों के, तो उनको खाना हजम नहीं होता था. हमारे लिए ऐसी कोई मजबूरी कभी नहीं रही. ईश्वर की दया से कमी नहीं है जो हमें लिखने के लिए ऐसी मजबूरी में डाले. भगवान की दया से काफी कुछ लिख भी चुका हूं. अब यह नाविल लिख रहा हूं. तो अब इतना लिख चुका हूं कि आप रबर लेकर लेखन की दुनिया से मेरा नाम मिटा नहीं सकते.

सवाल ही नहीं!

लेकिन अब यह कौन लिखाता है? न लिखूं तो झुंझलाहट होती है. झुंझलाहट कहां जायेगी. बीवी के अलावा. लेकिन वह ऐसी औरत है कि उसे तकलीफ कुछ भी होती हो, वह सब सहती है. उसी तरह साहित्य की बात है जैसे बच्चा प्रसव करने में एक औरत तकलीफ सहती है, फिर दूसरे बच्चे की कामना करती है.

आपके लेखन के लिए जो होमवर्क जरूरी होता है, उसमें क्या कभी कुछ नये लेखकों को भी पढ़ते हैं? उन लेखकों से कभी आपको

कुछ मिलता है?

मिलता है. क्यों नहीं मिलता? एक बात और सुन लो. जो वर्तमान लेखन है इस समय वह एक तरह से दिशाहीन भले हो, लेकिन जीवनशून्य नहीं है. और वहां जीवन है. वह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से दिशा से भी जुड़ा हुआ है. ईच ऑव यू इज ए वर्किंग परसन. मैं तुम्हारी जी-हजूरी नहीं करता. जो तुममें देख रहा हूं, वह कह रहा हूं.

हम लोगों के लेखन से क्या आपको कभी कोई ऐसा मुहावरा मिलता है, जो आकर्षित करता हो.

क्यों नहीं मिलता. कविता में खास तौर से मिलता है. गद्य में कहीं ऐसा भी लगता है कि हमारी अनुभूति थोड़ी लड़खड़ा गयी है. जैसे गद्य लेखकों को काम करना चाहिए, हमें ताज्जुब है कि वे वैसा काम नहीं कर रहे हैं. लेकिन कविता में ऐसा लगता है कि वह सहज रूप से जीवन के लिए कहीं आस्था देती है. इसलिए, भले बहुत खराब लिखा जा रहा हो, लेकिन सब दिन बहुत खराब नहीं हैं. भले ही एक खाम-खयाली हो, देखो, एक बात और सुन लो. मैं अपने बच्चों को गाली नहीं दे सकता. मैं अपने बच्चों का दोस्त हूं.

बाबूजी, आपके नशे की बात. बूटी (भांग) के गुलाम तो आप भी हैं. आप इस नशे के चक्कर में कब से फंस गये.

देखो, काशी गये. पंडित विनोदशंकर व्यास के यहां, नाव के ऊपर बैठकर बीच गंगा में भांग-वांग छानते थे. बस वहीं से लग गयी.

लेकिन बाबू जी, नशा कोई भी हो, आदमी को निकम्मा ही बनाता है.

हम अपने नशे में शाम को निकम्मे हैं, लेकिन जब जरूरी होता है तो नशे में भी हम सिपाही होते हैं. महल्लेवालों से पूछ लो. शहरवालों से पूछ लो. हमारा नारा है चार बजे तक व्यस्त, चार बजे के बाद मस्त!

बाबूजी, कभी आप संत्रस्त भी रहे हैं?

थोड़ी देर के लिए.

कितनी देर के लिए?

कभी किसी बहाने में ऐसा आ जाता है. आखिर मनुष्य हूं, लेकिन बस थोड़ी देर के लिए. हम शाम को सिर्फ जो गुनाह करते हैं सो करते हैं.

मैं उसे गुनाह नहीं कहना चाहता. . .

अच्छा, तुम जो भी कहना चाहते हो. . . गुनाह कह लो, कुछ भी कह लो. तो जो कुछ थोड़ी-बहुत मस्ती में जीने का आलम है, वह शाम को ही है. हम शाम को सिर्फ इसलिए करते हैं कि सारे संसार में कह सकें कि तुम्हारी ऐसी की तैसी. ठेंगे पर हैं आप!

क्या बात है!

नागरजी का बचपन : एक दुर्लभ चित्र

सबेरे तो फिर से काम करना है.

एक बात बताइए. . .

कौन-सी?

ये जो नया उपन्यास आप लिख रहे हैं, इसमें कितने कालखंड आप समाहित कर रहे हैं?

देखो, 1854 से 1900—कांग्रेस के जन्म तक एक है. वह जो दो-चार पृष्ठों में सिमटेगा. उसके बाद जो है 1900 से 1921 तक और 1921 से 42 और 42 से 47 और 47 से 85. इस तरह से छोटा-मोटा विभाजन मैंने कर लिया है. 75 तक मोटे तौर पर कनसीव कर लिया है.

जब आप इस तरह की चीजें लिख रहे हैं, छह सात पीढ़ी उसमें समा जायेंगी और उन पीढ़ियों को आपने देखा है. तो इसमें राजनीतिक पक्ष ही रहेंगे या. . .

राजनीति कम, सामाजिक-संस्कारगत ज्यादा. लेकिन पूर्णरूपेण राजनीतिक दृष्टि भी मेरी नहीं है. बनेगी भी नहीं और बनाऊंगा भी शायद नहीं. लेकिन जितना आवश्यक है, वहां भागूंगा भी नहीं और कतराऊंगा भी नहीं. सामाजिक मूल्यों से जो परिवर्तन आये मैं उनको विशेष रूप से लूंगा.

कोई राजनीतिक नेता भी इसे पढ़ता है, ऐसा आपको कभी लगा?

कभी-कभी ऐसा लगता है कि पढ़ा जाता है. एक बार जयप्रकाशजी की एक चिट्ठी आयी कि उन्होंने न केवल पढ़ा, बल्कि एक प्रति इंदिराजी को भी भेजी. सो कभी-कभी हमको मिनिस्टर-फिनिस्टर मिल जाते हैं. और झट से पता चल जाता है कि हां भाई, जाननेवाला है. तो उनसे भी बात होती है. लेकिन ऐसा नहीं लगता कि ये सब के सब अपढ़ हैं.

बाबूजी, क्या आपको कभी यह नहीं लगता कि प्रधानमंत्री को इस देश के विचारकों से कभी-कभी विचार-विमर्श करना चाहिए.

करना तो चाहिए. लेकिन उसमें सबसे बड़ी जो बात आती है, वह हमें एसिस्ट करना चाहते हैं. यानी हमको बदतर क्यों माना जाये? एक बार डा. केसकर के यहां एक मीटिंग हुई. जब विभिन्न भाषा के प्रोड्यूसर ऑल इंडिया रेडियो में भीड़ की तरह भर दिये गये. सौभाग्य से मैं उस भीड़ में नहीं था. सुमित्रानंदन पंत और सब साहित्यकार तो बैठे हुए हैं फर्श पर और मिनिस्टर साहब बैठे हैं सोफा पर. हम नहीं थे सौभाग्य से, वरना तो बिना पिये हमारी तड़क जाती.

अब बाबूजी, हम लोग व्यक्तिगत बातों की तरफ. . . आपको बहुत तकलीफ दे रहा हूं लेकिन यह जरूर जानना चाहता हूं, नये लेखन में इधर कुछ उपन्यास आपको अच्छे लगे?

हां, हां, क्यों नहीं. अभी वह राजी सेठ का एक उपन्यास आया है. . . क्या नाम है उसका. . . हां, तत्सम. अच्छा उपन्यास है. रवींद्र कालिया ने 'खुदा सही सलामत है' लिखा है, अच्छा लगता है पढ़ के.

मुस्लिम संस्कृति पर अभी तक लिखनेवाले मुसलमान लेखक ही थे. कालिया ने उस परंपरा को तोड़ा और उस तबके को नजदीक से और बड़ी गहराई से आंकने की कोशिश की.

क्या अच्छी बात तुमने याद दिलायी. कालिया ने यह काम बहुत अच्छा किया.

बड़ा संकोच हो रहा है. आपको खाने-पीने से महरूम किये बैठा हूं, इतनी देर से बक-झक कर रहा हूं. . .

अरे, अब क्या खाना-पीना, बगैर मिर्च-मसाले का खाना है!

यह अच्छी सुनायी. अजीब बात है कि आप जिंदगी भर जमाने को मसाला लगाते रहे और अब मसाले से महरूम रखे जा रहे हैं!

(नागर जी का एक जोरदार ठहाका) देखो, मैं फिर कहता हूं मुझे किसी से कुछ नहीं चाहिए. जमाने से तो बिलकुल नहीं. बीवी जो देती है, खाना पड़ता है. मैं पहले ही कह चुका हूं, मैं बीवी का गुलाम हूं. . . (और नागरजी के चेहरे पर दांपत्य की एक गरिमापूर्ण आभा बिखर गयी. लेकिन यह आभा नियति से बहुत दिनों बर्दाश्त न हुई और इस बातचीत के छपने तक वह गरिमा और ममता की प्रतिमूर्ति नागरजी से 28 मई, 1985 को सदा के लिए बिछुड़ गयी.) □

अपनी मां की खट्टी-मीठी स्मृतियों को यादकर रही हैं नागरजी की छोटी बेटी

मेरी बा

आरती पांड्या

'बा नहीं रहीं.' इन तीन शब्दों ने मानो मेरा सब कुछ बदल डाला. जीवन से परिपूर्ण, सौंदर्य और कर्मठता की वह सजीव मूर्ति हम लोगों को इस तरह अकेला छोड़ जायेंगी, कभी सोचा भी न था.

बा, जो सिर्फ एक व्यक्तित्व ही नहीं, बल्कि ममता और स्नेह का अथाह सागर अपने अंदर समेटे, समस्त परिवार को एक सूत्र में बांधकर, सहेजकर रखने वाली ठंडी छांव थीं, जिनके प्यार तले पल भर बैठकर ही जीवन का परम सुख मिल जाता था. बा विहीन घर की कल्पना भी नहीं कर सकते थे हम लोग.

मैं भाई-बहनों में सबसे छोटी हूं, लिहाजा बचपन से ही घर-भर की लाड़ली रही. जब बहुत छोटी थी, तब तीनों बड़े भाई-बहन आगरा में नानीजी के पास रहकर पढ़ते थे. मैं अकेली ही बा-बाबूजी के पास लखनऊ में रहती थी. बाद में भाई साहब भी (कुमुद भाई) लखनऊ आ गये. घर में मेरे बराबर का कोई नहीं था और आस-पास भी हमउम्र बच्चे कम ही थे. बाबूजी सुबह से लिखने में या किसी और काम में व्यस्त रहते. हां, शाम को खाली होने पर वह मुझे खूब कहानियां सुनाते या घुमाने ले जाते. लेकिन दिन का सारा समय मेरा बा के साथ ही बीतता था. उन दिनों घर में बा बहुत सारे गरीब बच्चों को पढ़ाया करती थीं. मैं उस समय दो-तीन वर्ष की थी, अधिक याद नहीं है, मगर इतना जरूर याद है कि घर में दिन में खूब रौनक लगी रहती थी. उन बच्चों के साथ ही मेरी भी पढ़ाई-लिखाई तीन साल की उम्र से शुरू हो गयी थी.

जैसे-जैसे मैं बड़ी होती गयी, बा मां से ज्यादा मेरी मित्र बनती गयीं. कॉलिज से लौटकर जब तक उनको दिन भर का लेखा-जोखा सुना न दूं, मुझे चैन नहीं पड़ता था. मैं तुनकमिजाज भी बहुत थी. बा ने जरा-सा कुछ कहा और मेरा मुंह फूल जाता था. आमतौर पर हम लोगों की लड़ाई खाने पर होती थी. बा को जितना ठूंस-ठूंसकर खिलाने का शौक था, मैं उतनी ही खाने से दूर भागती थी. वैसे भी कॉलिज के दिनों में 'डायटिंग' का क्रेज कुछ ज्यादा ही होता है. बा इसी बात पर मुझे डांटती थीं, लेकिन मुझे पता था कि लाख गुस्सा आये, बा मुझे मनाने जरूर आयेंगी और यही होता भी था. बा थोड़ी देर बाद मेरी पसंद की चीजें लेकर आतीं और मना-मनाकर मुझे खिलातीं. अब सोचती हूं तो लगता है कि अनजाने ही सही, मगर मैं उन्हें कितना सताती थी.

मेरे विवाह के बाद बा ने बड़े ही प्यार और शौक से मेरी नयी गृहस्थी संजोयी. जब भी मेरे घर आतीं, कुछ न कुछ गृहस्थी का सामान लेकर ही आतीं. अगर मैं मना करती तो कहतीं, "जो दे रही हूं, चुपचाप रख लिया कर, जब मर जाऊंगी तब कोई नहीं पूछेगा."

आम तौर पर सास और दामाद का संबंध औपचारिक सा ही रहता है, लेकिन मेरे पति शुरू से ही बा से बहुत खुले हुए थे. बा से उनकी बातें इस तरह होती थीं मानो सास से नहीं किसी छोटी साली से हंसी-मजाक हो रहा हो. बा उनके लिए सास कम 'फ्रेंड' ज्यादा थीं. बा भी हर समय अनिल (मेरे पति) के ही गुण गाती थीं. मुझसे कहती थीं, "तूने बड़े अच्छे कर्म किये होंगे, तभी तुझे ऐसा अच्छा और समझदार पति मिला है. उससे झगड़ा मत किया कर." बा के लिए उनका अनिल दामाद नहीं बल्कि बेटा ही था.

सन् '80 में मेरे पति का ट्रांसफर श्रीनगर हो गया. मैंने बा को लिखा कि आप सब लोग गर्मी में कश्मीर आइयेगा. बा ने आने का वादा किया, लेकिन न आ सकीं. जब सर्दियों में मैं लखनऊ आयी तो मैंने बाबू जी से शिकायत की कि सब लोग आ जाते हैं. बस आप लोगों का ही आना नहीं होता. बाबूजी ने कहा, "बेटा, इस बार मैं तेरी बा को लेकर जरूर आऊंगा."

लेकिन सन् '82 मई के महीने में बा बहुत बीमार हो गयीं और उसके बाद हर साल हम लोग प्रतीक्षा ही करते रहे, लेकिन दिन पर दिन बा शिथिल होती गयीं और अंत तक उनका हमारे पास आना न हो सका. सन् '82 के 'हार्ट अटैक' के बाद हालांकि उनमें पहले जैसी शक्ति नहीं रह गयी थी, फिर भी जोश में आकर वह सीमा से अधिक काम करती थीं. अब पैदल अधिक नहीं चल पाती थीं तो रिक्शा लेकर बाजार या बैंक का काम करने जातीं, वह भी छिपकर, उस समय जब बाबूजी अपने कमरे में या तो लिखवा रहे होते या दिन में सो रहे होते थे, क्योंकि बाबूजी उनको अधिक दौड़-धूप करने पर टोकते थे.

बा हमेशा कर्म में विश्वास रखती थीं. हाथ पर हाथ रखकर बैठना उनका स्वभाव न था. उनके मन में सबके लिए एक सा स्नेह था, तभी तो वह सबकी 'बा' बन जाती थीं—चाहे वह हम भाई-बहनों के परिचित हों या बाबूजी के पास मिलने आने वाले —सब पर बा जादू की ऐसी छड़ी फिरा देती थीं कि सब उनको अपनी मां या भाभी समझने लगते थे. किसी की नौकरी लगवानी हो तो बा दौड़ रही हैं, किसी को डाक्टर को दिखाना है तो बा लेकर जा रही हैं. साल में न जाने कितनी गरीब कन्याओं के लिए दहेज बटोरकर कन्यादान करवाती थीं. यानी कि हर एक का दुःख उनका अपना दुःख था. कितनी भी परेशानी क्यों न हो, औरों के सामने बा उसको जाहिर नहीं होने देती थीं. उनके पान रचे होंठों पर एक मीठी सी मुस्कराहट हमेशा बिखरी रहती थी.

बा का भंडार हर आने-जाने वाले के लिए खुला हुआ था. कोई भी आये, बगैर खाना खिलाये बा उसको जाने नहीं देती थीं. हम चारों भाई-बहनों को तो उन्होंने जन्म दिया था परंतु उनके विशाल कुनबे में तो उनके अनगिनत बच्चे थे, जिनके दुःख-सुख से वह उतनी ही जुड़ी हुई थीं, जितनी अपनी संतानों से.

बा के देहांत का समाचार सुनकर उनके न जाने कितने शोकाकुल बेटे-बेटियां बार-बार यही कहते कि हमारी दुःख-सुख बांटने वाली मां चली गयीं. किसके आगे हम अपना दिल खोलेंगे.

मैं भी तो यही सोच रही हूं कि अब मैं बा किसे कहूंगी? □

पखवारे की पुस्तक

'मैं मरूंगी नहीं' बनाम 'अग्निगर्भा'

■ डा. रामजन्म शर्मा

अमृतलाल नागर; प्रेमचंद परंपरा के एक सशक्त उपन्यासकार हैं. प्रेमचंद की तरह ही नागरजी ने वर्णनात्मक शैली को अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया है. नागरजी ने शहरी जीवन की विसंगतियों को अपने कथा-साहित्य का प्रमुख केंद्र बनाया है. उनके उपन्यासों में चरित्र-चित्रण के साथ ही व्यक्तित्व का उद्‌घाटन भी सफलता के साथ हुआ है. इसी संदर्भ में 'अग्निगर्भा' नागरजी की एक महत्वपूर्ण कृति है.

'अग्निगर्भा' में एक निम्नमध्यवर्गीय परिवार की युवती 'सीता' का आत्मसंघर्ष रूपायित किया गया है. इस उपन्यास का मूल कथ्य आधुनिक समाज की विसंगतियों पर आधृत है. कुमारी मैत्रेयी शुक्ला और सीता पांडेय घनिष्ठ सहेलियां हैं. कुछ दिनों बाद मैत्रेयी डा. गोडबोले के साथ प्रेम-विवाह कर लेती हैं. डा. मैत्रेयी गोडबोले 'सारस्वत प्रतिष्ठान' की निदेशक बन जाती हैं. सीता की सहेली एक प्रतिष्ठित धनाढ्य परिवार में ब्याही जाती है. सीता पांडेय समाजशास्त्र में एम. ए. प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण करने के साथ ही 'आर प्रदेश की जनजातियों में नातेदारियों का तंत्र' विषय पर निबंध लिखकर 'लेडी प्रभावती स्वर्ण पदक' प्राप्त कर लेती है. इसके बाद ही प्रारंभ होता है सीता पांडेय का संघर्षमय जीवन.

कु. सीता पांडेय की शादी दहेज के अभाव में नहीं हो पाती और न सीता पीएच. डी. ही कर पाती है. उसके माता-पिता सीता को शार्टहैंड-टाइप सीखाकर किसी दफ्तर में काम करवाने के भी खिलाफ हैं. सीता के पिता का दृढ़ मत है कि लड़कियों को दफ्तर में काम नहीं करना चाहिए. किसी प्रकार वह बी. एड. कर लेती है. जीवन साथी के रूप में सीता एक विद्वान एवं जिंदादिल पति चाहती है.

सीता, कुसुम के घर जाती है. डी. डी. एम. कालेज में समाजशास्त्र के रिक्त लेक्चरर पद के लिए बात भी होती है. किंतु सीता चुप है. इसी बीच सीता, कुसुम से पूछती है, "कहीं ब्याह-ब्याह की बात चल रही है तेरी?" "जब चिता पर चढ़ूंगी तब शायद चले." सीता उत्तर देती है. वस्तुतः 'अग्निगर्भा' में दहेज की समस्या को बहुत ही गंभीर रूप से प्रस्तुत करने की कोशिश नागरजी ने की है. सीता दहेज के लिए असमर्थ युवती का उदाहरण देते हुए कहती है, न नौ मन तेल होगा न राधा नाचेगी!

अंततः सीता और रामेश्वर एक-दूसरे के नजदीक आते हैं. जोड़-तोड़ बैठाकर रामेश्वर, सीता को लेक्चरर बनवा देता है.

रामेश्वर के पिता सीता की शादी की रकम के दहेज के रूप में 15 हजार नगद लेते हैं, और पांच-पांच हजार का कागज बनवा लेते हैं. इसके बाद इंस्टालमेंट के रूप में सीता के पिता कर्ज चुकाते हैं.

सीता की शादी रामेश्वर के साथ हो जाती है. डा. सीता शुक्ला कालेज के लेक्चरर के रूप में काफी नाम कमा लेती हैं. कालेज में अनेक उत्सव होते हैं. बड़े-बड़े नेता कालेज में आते हैं. प्रोफेसरों के सेमिनार भी होते हैं. कुल मिलाकर कालेज की प्रतिष्ठा काफी बढ़ जाती है. डा. सीता शुक्ला द्वारा लिखित पुस्तकों से रामेश्वर को काफी धन भी मिलने लगता है.

अधीक्षक के रूप में रामेश्वर कालेज में बिल्डिंग बनवाता है, और गलत ढंग से पैसे कमाता है. साथ ही अपने लिए भी एक मकान बनवाता है, जिसके लिए सारा सामान कालेज से आता है. वह डा. सीता शुक्ला द्वारा टेक्स्ट बुक लिखवाकर छपवाने का काम भी कालेज में करता है.

रामेश्वर सीता के पिता से पैसे वसूलने के लिए उसके भाई को कालेज में नौकरी दिलवाता है. उधर सीता के पिता आर्थिक अभावों से जूझते हैं. छोटी बेटी गीता की शादी के लिए दहेज नहीं जुटा पाते. वह अंतर्जातीय विवाह कर, घर छोड़ देती है.

सीता रामेश्वर के परिवार में सब कुछ सहती है. उसे एक पुत्र भी होता है. फिर अचानक एक घटना घट जाती है. सीता का भाई बीमार पड़ जाता है. सीता की मां सीता को सूचना देती है कि सीता कुछ पैसे की मदद करे, जिससे उसके भाई का इलाज किया जा सके. सीता रामेश्वर द्वारा रखने के लिए दिये गये रुपयों में से कुछ रुपये इलाज के लिए दे देती है. इस पर रामेश्वर बहुत बिगड़ता है. तब सीता और रामेश्वर में कड़वाहट उत्पन्न हो जाती है. सीता विभागाध्यक्ष के साक्षात्कार में जाने से इनकार करने लगती है. रामेश्वर दबाव डालता है. अंत में सीता घर छोड़कर अलग रहने लगती है. कालेज के ट्रस्टी डा. सीता शुक्ला को कार्यवाहक प्राचार्या घोषित करते हैं, किंतु सीता शुक्ला इस पद को अस्वीकार कर देती है. साथ ही दहेज के लिए जलायी जानेवाली अथवा शोषित औरतों की दशा को सुधारने के लिए वह एक आंदोलन छेड़ना चाहती है. रामेश्वर सीता के पास जाकर बार-बार गिड़गिड़ाता है कि वह प्राचार्या के पद को स्वीकार कर ले. पर सीता अस्वीकार कर देती है ... फिर डा. सीता शुक्ला नारी शोषण के खिलाफ लड़ती हुई मारी जाती हैं. रामेश्वर को भी गोली लगती है पर वह बच जाता है.

प्रस्तुत उपन्यास में नागरजी ने नारी शोषण का एक बहुत ही सशक्त रूप प्रस्तुत किया है. समाज में व्याप्त विसंगतियों पर उन्होंने मार्मिक चोट पहुंचायी है. दंगा, दहेज, बेरोजगारी, कालगर्ल, सामाजिक भ्रष्टाचार, कुंठा, संत्रास, मनुष्य की कामलोलुपता, स्त्री-पुरुष संबंधों पर आधारित मुद्दे इस उपन्यास में पूरी तरह से उभरकर सामने आये हैं.

'अग्निगर्भा' में सीता और रामेश्वर के मानसिक अंतर्द्वंद्व को भी नागरजी ने बहुत ही सजगता के साथ रेखांकित किया है.

वस्तुतः इस कथाक्रम में उच्च वर्ग की स्थितियों के बीच सीता की निम्न मध्यवर्गीय जीवन स्थितियों के पेचों और टकराहटों को अभिव्यक्त करना भी उपन्यास का एक उद्देश्य रहा है. उपन्यास में सीता एक ऐसा चरित्र है, जिसके व्यक्तित्व का विकास सफलता के साथ उपन्यासकार ने रूपायित किया है. रामेश्वर एक प्रवृत्ति है जो सीता जैसे व्यक्तित्व को खाती है, किंतु सीता की तकलीफों में, संघर्ष में जीवन-शक्ति और संभावनाएं हैं. वस्तुतः सीता मरती नहीं है, वह तो अग्निगर्भा है. उसके अंदर एक ज्वाला धधकती रहती है.

इस प्रकार उपन्यास में जर्जर होकर टूटती हुई पुरानी व्यवस्था से जन्म लेती हुई नयी व्यवस्था को रेखांकित किया गया है. □

● अमृतलाल नागर : 1971

■ **अग्निगर्भा (उपन्यास) :**
अमृतलाल नागर
प्रकाशक : राजपाल एंड संस, दिल्ली-6
मूल्य : 35 रुपये

● नागरजी के सद्यःप्रकाशित उपन्यास 'करवट' की समीक्षा अगले अंक में

कथा-शिल्पी नागरजी का एक समय रंगकर्म से भी गहरा नाता रहा है. नाटक लिखने के साथ-साथ उन्होंने निर्देशन के क्षेत्र में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है—प्रस्तुत है रंगकर्मी नागरजी के साथ राकेश कुमार 'मंजुल' की लंबी बातचीत के कुछ अंश—

● महादेवी वर्मा, मामा वरेरकर और 'भारतेंदु हरिश्चंद्र' के निर्देशक अमृतलाल नागर के साथ रंग-मंडली

"हिंदी वालों को अभी अपना मुहावरा नहीं मिला है..."

मूलतः आप कहानीकार एवं उपन्यासकार हैं. नाटक का शौक कैसे शुरू हुआ?

देखो—नाटक को मेरा संस्कार मान सकते हो. मेरे पिता स्व. श्री राजा राम नागर, लखनऊ और विशेषकर चौक में इस शती के आरंभिक दो दशकों में शौकिया रंगमंच के अग्रणी अभिनेताओं में से थे. स्व. पं. माधव शुक्ल के निर्देशन में उन्होंने कई नाटक खेले. संभवतः 1921-22 में उनका अंतिम नाटक देखने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ—अब तो बड़ी हल्की स्मृतियां शेष हैं. हमारे घर में पं. माधव शुक्लजी ने उस नाटक का कुछ भाग रिहर्सल भी कराया था. चार-पांच वर्ष की आयु थी मेरी. . . शुक्लजी घर पर ठहरे थे. इसी कारण यह सुअवसर मुझे मिला. फिर स्कूल के दिनों में 'वीर अभिमन्यु' नाटक में छोटा-सा रोल मुझे मिला था.

फिर बतौर नाटककार विधिवत् शुरुआत कब हुई?

सन् '48 में बंबई से लौटकर आने के बाद चौपटियां मुहल्ले के कुछ युवकों के आग्रह पर एक नाटक लिखकर उसे बड़े शिवाले में मंचित किया. . . न उसकी स्क्रिप्ट है मेरे पास, न उसका नाम याद है मुझे. . . हां, दूसरा नाटक किया था 'परित्याग'. कुंवर कांतिवीर गुप्त थे . . . उनके आर्थिक सहयोग से. . . उसके बाद सिलसिला जारी हो गया. सन् '49 में लखनऊ विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित 'अखिल भारतीय ओरियंटल कांफ्रेंस' में तत्कालीन कुलपति स्व. आचार्य नरेंद्र देव से किसी दक्षिण भारतीय विद्वान ने हिंदी नाटक देखने की इच्छा प्रकट की. हिंदी-विभागाध्यक्ष स्व. दीन दयाल गुप्त के आग्रह पर मैंने प्रसादजी के नाटक 'स्कंदगुप्त' का निर्देशन किया.

उस समय तो पारसी रंगमंच छाया हुआ था, तकनीकी रूप से भी विकसित था, आपने उस शैली से हटकर भी नाटक किये. . .क्या उनमें नये प्रयोग किए थे?

हां, बिल्कुल किये थे और बड़े सफल प्रयोग रहे थे वो. सन् '54 में महादेवीजी ने नैनीताल के ताकुला क्षेत्र में 'साहित्यकार संसद' का एक साहित्यिक शिविर लगाया था, जिसमें तय हुआ कि भारतेंदुजी के जीवन चरित्र पर एक नाटक लिखा जाये. ताकुला से डा. धर्मवीर भारती महादेवीजी का यह संदेश लेकर आये कि 'नाटक लिखो और उसे मंचित भी कराओ.' फिर मैंने 'युगावतार' की रचना की, लगभग डेढ़ माह इलाहाबाद में रहकर उसे तैयार कराया. पहली बार उसमें जालीदार पर्दे का चमत्कारिक प्रयोग किया गया था. जब पर्दे के पीछे प्रकाश पड़ता तो वह गली का दृश्य बन जाता और सामने से प्रकाश पड़ने पर भारतेंदु का निवास. बहुत सराहा गया यह प्रयोग. . . फिर विष्णु प्रभाकर द्वारा रूपांतरित प्रेमचंदजी के 'गोदान' में मैंने परिक्रामी सेटों का प्रयोग किया. सन् '56 में भगवती बाबू के नाटक 'रुपया तुम्हें खा गया' में मैंने एक फ्लैश बैक दृश्य के लिए ट्रॉली-सेट का प्रयोग किया था. पुराना दृश्य आते ही पलक-भर में गरीब का घर-आ जाता था और वैसे ही फिर रईस की कोठी. इसके लिए मंच को तीन हिस्सों में बांटकर बीच में एक गड्ढा खोदकर लकड़ी के तराफों पर ट्राली-सेट रस्सी खींचकर चलाया जाता था.

आज जिस तरह संस्थाएं बन रही हैं, नाटक हो रहे हैं, लगता है सबसे आसान कार्य नाटक करना है. पहले भी ऐसा था?

अरे. . . भाई. . . अब तो सब बना-बनाया है आडीटोरियम से लाइट तक. तब तो तिल से जौ तक सारा इंतजाम करना पड़ता था और उसके बावजूद कभी-कभी धाद तक भुगतना पड़ता था. . . मेरे ही साथ ऐसा हुआ था. सन् '50 में स्व. रजिया सज्जाद जहीर द्वारा रूपांतरित 'ईदगाह' का मंचन 'रिफाह-ए-आम' क्लब में किया. उस पर सरकार ने 'ड्रामेटिक परफारमेंस एक्ट' के तहत मेरे और रजियाजी सहित दो और लोगों पर मुकद्दमा चला दिया. सौभाग्य से वह मुकद्दमा इलाहाबाद हाईकोर्ट की लखनऊ खंडपीठ द्वारा सुना गया और पहली बार 'ड्रामेटिक परफारमेंस एक्ट' उसी मुकद्दमे से सदा के लिए खत्म कर दिया गया.

जहां हिंदी में नाटकों का अभाव है, वहीं अन्य भारतीय भाषाओं के रूपांतरण अधिक लोकप्रिय हुए हैं. नाटक तो हिंदी में भी लिखे गये पर उनमें क्या कमी रही?

जहां तक मैं समझता हूं, स्वतंत्रता के बाद दो ही नाटक हिंदी में अच्छे लिखे गये. एक मोहन राकेश का 'आधे-अधूरे' दूसरा धर्मवीर भारती का 'अंधायुग'. एक बात मैं बहुत अरसे से कह रहा हूं कि अभी तक हिंदीवालों को नाटक का सही मुहावरा नहीं मिल पाया है. हिंदी के नाटक अपने अलेखन या अनुभवहीन लेखन के कारण मार खा रहे हैं. प्रयोग बहुत हुए, पर जीवन से जुड़े सही नाटक आये नहीं. हिंदी नाटक का कोई रुझान नहीं है, उन्हें तकनीक पर खड़ा करने का प्रयास किया जाता है. हमारे हिंदी भाषी क्षेत्र के नाटक यदि स्व. मोहन राकेश के नाटक का नाम उधार लेकर कहूं तो सब 'आधे-अधूरे' ही रह गये.

हिंदी रंग-आंदोलन को मजबूत करने के लिए क्या कुछ करना आवश्यक है?

पेशेवर रंगमंच की स्थापना. देखो, यह कमी बहुत अरसे पहले महसूस की जानी चाहिए थी. . . हुआ यों कि शुरू में उत्तर प्रदेश और बिहार में भारतेंदु बाबू और माधव शुक्लजी के प्रयत्नों से शौकिया रंगमंच तो स्थापित हो गया, लेकिन पेशेवर रंगमंच की भूमि बंबई या कलकत्ता ही रही. पहले पारसी कंपनियां आती रहीं. फिर फिल्में आयीं किंतु सब हिंदी भाषी प्रदेश से बाहर. पेशेवर रंगमंच की स्थापना 1922 में मेरठ में हुई लेकिन असफल ही रही. नाटक अधिक प्रदर्शनों से ही मंजता है. □